एकाङ्कि-

संस्कृत-नवरत्न-

मञ्जूषा

दृष्ट्वा श्रुत्वा पठित्वाऽपि
नाटकं बहु रोचकम् ।
निन्दति श्लाघते यो न
किं वाणी-कृपणः स न ?

डॉ. नारायणशास्त्री काङ्करः

नैतिक-शिक्षोपयोगिनी—

एकाङ्कि-संस्कृत-नवरत्न-मञ्जूषा

भूमिका-लेखक
परम-सम्माननीय
श्रीयुत बुलाकीदास कल्ला
शिक्षा-मन्त्री, राजस्थान

□

लेखक
राजस्थान-सरकार से योग्यतापुरस्कार-प्राप्त
वैयाकरण-केसरी, विद्या-वारिधि
आचार्य-डॉ० नारायणशास्त्री काङ्कर
विद्यालङ्कार, M. A., Ph. D.
Associate Professor
राष्ट्रिय आयुर्वेद संस्थान (N. I. A.)
जयपुर

प्राप्ति-स्थान
रमेश बुक डिपो
त्रिपोलिया बाजार
जयपुर-302002

प्रकाशक–

रामशर्मा काङ्कर
विद्या-वैभव-भवन
सुमेरुकर्ण-मार्ग, रामगञ्ज
जयपुर–302003
राजस्थान

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

एकाङ्कचनुक्रमणिका

क्र० सं०	एकाङ्की	पृष्ठ
१.	स्वदेश-प्रेम	१
२.	प्रेम - परीक्षा	१०
३.	नन्द - दीक्षा	१९
४.	भक्तराज - चन्द्रहास	३३
५.	अशोक - पराजय	५३
६.	वन्दी चन्द्रगुप्त	६७
७.	प्रत्युत्पन्न-मति नापित	७४
८.	ताडन - भय	८३
९.	पशु - कल्याण	९९

मुद्रक–

श्रीराधेश्याम शर्मा उपाध्याय
श्रीशङ्कर आर्ट प्रिण्टर्स
त्रिपोलिया बाजार
जयपुर–302002

मूल्य : चालीस रुपया

सुखदेव प्रसाद

सत्यमेव जयते

राजपाल, राजस्थान
GOVERNOR OF RAJASTHAN

राज भवन, जयपुर
Raj Bhawan, Jaipur

दिनांक मार्च ७, १९८६

प्रिय शास्त्री जी,

देववाणी संस्कृत अजर अमर है। इसमें लिखा प्राचीन साहित्य विश्वप्रेमयोगी है। आज भी इसमें बहुत कुछ लिखा जा रहा है। यह इसके जीवित होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

आपकी लिखी 'एकाह्निक -संस्कृत -नवरत्न -मञ्जूषा' पुस्तक मुझे पढ़ने को मिली। आज के विकृत वातावरण में सुधार लाने हेतु नैतिक शिक्षाओं से परिपूर्ण इस पुस्तक की अत्यन्त उपादेयता है।

शिक्षामंत्री श्री बी०डी०कल्ला जी ने तो इसकी भूमिका लिखकर इसकी उपयोगिता को प्रमाणित ही कर दिया है। विषय और शैली की दृष्टि से यह पुस्तक आकर्षक तो है ही, भाषा की दृष्टि से और भी अधिक सरल और सरस हो गयी है।

पदों में परस्पर सन्धि नहीं करके और सुपरिचित शब्दों का प्रयोग करके आपने पुस्तक की भाषा को सुपाठ्य और सुबोध बना दिया है। ऐसी ही भाषा लोक-भाषा हो सकती है।

इसके लिए आप हृदय से पुनः पुनः साधुवाद के पात्र हैं।

शुभकामनाओं सहित,

भवदीय

। सुखदेव प्रसाद ।

आचार्य डा० नारायण शास्त्री काङ्कर,
राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान,
जयपुर ३०२ ००२।

समर्पण

इहलोक और परलोक दोनों में कल्याण-कारिणी
विश्व-भाषा-जननी अमर-वाणी संस्कृत के
प्रचार-प्रसारार्थ सदा सर्वथा सन्नद्ध
नैतिकता तथा अखण्डता के महान् समर्थक
वेश-भूषा, भाषा और आचार-व्यवहार से भारतीयता के मूर्त्तरूप
वीर-वसुन्धरा राजस्थान के लोक-प्रिय महामहिम-राज्यपाल
सौम्य-स्वभाव स्मित-मुख मधुर-भाषी प्रिय-दर्शन
परम-श्रद्धेय श्री शुकदेव प्रसादजी महानुभाव के
कर-कमलों में
आपकी असीम साहित्यिक शैक्षिक एवं सांस्कृतिक
प्रगाढ अभिरुचि के
उपलक्ष्य में
स्वास्थ्य-सहित दीर्घायुष्य समृद्धि के लिये
हार्दिक शुभ अभिलाष के साथ यह
"एकाङ्कि-संस्कृत-नवरत्न-मञ्जूषा"
सादर सप्रणति
समर्पित

विनयावनत
समर्पण-कर्ता
नारायण काङ्कर

राजस्थान - प्रदेशस्य राज्यपालो महायशाः ।
शुकदेवप्रसादोऽयं श्रीमान् धीमान् विराजते ।।

भूमिका

दृश्य और श्रव्य काव्यों में दृश्य काव्य ही अधिकतर सद्यः हृदय-स्पर्शी होते हैं। दृष्टि और श्रोत्र के माध्यम से मानस-पटल पर अङ्कित उनका प्रभाव अक्षुण्ण रहता है। नाटक दृश्य काव्यों में ही गिने जाते हैं। नाटकीय तत्त्व श्रव्य काव्यों में भी यत्र तत्र उपलब्ध होते हैं, परन्तु प्रचुर मात्रा में नहीं। इन्हीं तत्त्वों से श्रव्य काव्यों की श्रीवृद्धि में चार चाँद लग जाते हैं।

वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् और पुराणों में तो दृश्य और श्रव्य दोनों ही प्रकार के काव्यों की उपयोगी असीम सामग्री भरी पड़ी है। अत एव ये सब इन काव्यों के उपजीव्य अथवा उपजीवक भी कहे जाते हैं। दृश्य काव्य सम्बन्धी विधि-विधान का विशद विस्तृत वर्णन भरत नाट्य सूत्र में और अग्निपुराण में पाया जाता है। संस्कृत के सभी दृश्यकाव्यों/नाटकों ने उन विधि-विधानों का अनुगमन किया है और करना भी चाहिये।

परन्तु आज वे संस्कृत के प्राचीन नाटक सरस और मनोरम होते हुए भी भाषा की दृष्टि से अद्यतन स्वल्प संस्कृतज्ञों के लिये भी सुज्ञेय नहीं हैं। संस्कृत का तल-स्पर्शी पाण्डित्य धारण किये विना उन कवि-शिरोमणियों की नाट्य-कृतियों को समझ पाना नितान्त ही असम्भव है, उनसे अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति तो सर्वथा दूर है। यही कारण है कि संस्कृतनाटक जो दृश्य हैं— वे भी अध्याप्य हो गये।

फिर अध्याप्य विषयों से छात्र-छात्राओं को जैसे वितृष्णा रहती है और परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने तक ही उनसे उनका यथाकथञ्चित् संबन्ध रहता है, वैसे ही संस्कृत नाटकों से हो गया। अत एव सर्वसाधारण-द्वारा सुवेद्य नहीं होने से प्राचीन संस्कृत नाटकों का अधिक अभिनय नहीं किया जाता। यदि कभी किया भी जाता है तो सम्पूर्ण नाटक का अभिनय न करके उसके किसी अङ्क अथवा दृश्य का ही मञ्चन करके आत्मतुष्टि कर ली जाती है।

डॉ० नारायणशास्त्री काङ्कर के द्वारा लिखित यह "एकाङ्कि-संस्कृत-नवरत्न-मञ्जूषा" अवश्य ही भाषा की दृष्टि से सर्वथा सुबोध और वाचन की दृष्टि से सर्वत्र सरल है। भले ही नाट्यशास्त्र में वर्णित सभी विधि-विधानों का इसमें अनुसरण नहीं हुआ हो, परन्तु दर्शक और वाचक पर अपनी सरसता की मुद्रा तो ये नाटक छोड़ ही देते हैं।

अश्लीलता से वर्जित और नैतिक शिक्षाओं से संवलित होने से आबाल-वृद्ध स्त्री-पुरुष, युवक-युवतियाँ और बालक-बालिकायें निःसङ्कोच एक साथ बैठकर इनके अभिनय को देख सकती हैं। उनको इनका पठन-पाठन भी विना किसी सङ्कोच के एक साथ कराया जा सकता है। स्वल्प समय में स्वल्प सामग्री से अभिनेय होने के कारण इन नाटकों की उपादेयता और भी अधिक बढ़ गयी है।

संस्कृत में ऐसे सरल शिक्षाप्रद अभिनेय एकाङ्की नाटकों की पुस्तक का अभाव ही था। श्रीकाङ्करजी ने इस अभाव को समझा और उसकी पूर्त्ति किसी अंश तक इस "मञ्जूषा" के द्वारा की। मूल एकाङ्की की कथा-वस्तु, पात्रों का चरित्र-चित्रण और उद्देश्य हिन्दी में दे दिये जाने से जो संस्कृत नहीं जानते अथवा संस्कृत कम जानते हैं वे भी इसके रसास्वादन से वञ्चित नहीं रहेंगे।

इसी शैली में एक अन्य नौ एकाङ्की नाटकों की "एकाङ्कि-संस्कृत-नवरत्न-सुषमा" पुस्तक श्रीकाङ्करजी संस्कृत जगत् को समर्पित कर चुके हैं—जिसका प्रकाशन सन् 1976 में राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर ने किया था।

आशा है, यह "मञ्जूषा" भी "सुषमा" की भाँति लोकप्रिय बनेगी और संस्कृतजगत् के साथ शिक्षाक्षेत्र में भी सर्वत्र इसका अवश्य भरपूर उपयोग किया जायगा।

शिक्षामन्त्री—
राजस्थान सरकार

लेखकीय वक्तव्य

"कः साभिलाषः नव-वस्तुनि स्वं हार्दं न भावं प्रकटं करोति ?"

नीर-क्षीर-विवेकी हंसायमान विद्वज्जनों के समक्ष नैतिक-शिक्षाओं से परिपूर्ण यह अभिनवतम **"एकाङ्कि-संस्कृत-नवरत्न-मञ्जूषा"** पुस्तक प्रस्तुत करते हुए अमन्द आनन्द की अनुभूति हो रही है।

प्रशासनिक कार्यों में अनवरत अत्यन्त व्यस्तता की विद्यमानता में भी इस पुस्तक की भूमिका लिखने की मेरी प्रार्थना स्वीकृत करके जिन्होंने यथासमय सारगर्भित और वैदुष्यपूर्ण भूमिका लिखकर पुस्तक का ही गौरव-वर्धन नहीं किया — अपितु अपने उत्कृष्ट प्रगाढ संस्कृत-प्रेम को भी सिद्ध किया– उन विख्यात-नामा परमादरणीय विद्वद्रत्न **श्रीबुलाकीदासजी कल्ला शिक्षामन्त्री, राजस्थान सरकार** का मैं हृदय से ऋणी हूँ और उनका यह सौजन्य कदापि कथमपि विस्मरणीय नहीं हो सकता।

इस पुस्तक के समर्पण को स्वीकृत करने की जिन्होंने निःसीम स्नेह से अपार उदारता दर्शायी और साथ में पुस्तक के विषय में अपना बहुमूल्य संस्मरणीय शुभाशीर्वाद भी देकर मेरा उत्साह-संवर्धन किया — उन महान् मनीषी संस्कृत के प्रबल समर्थक विद्यावयोवृद्ध **राजस्थान के महामहिम-राज्यपाल** स्वनामधन्य श्रद्धेय-प्रवर श्रीमान् **शुकदेवप्रसादजी** महानुभाव के प्रति तो हार्दिक आभार प्रकट करने के लिये मुझे कोई पर्याप्त उपयुक्त शब्द ही दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं। अतः केवल मौन-कृतज्ञता ही सबहुमान सप्रणाम प्रस्तुत है।

इस पुस्तक की उपादेयता को समझकर ही जिसने इसके प्रकाशन हेतु दो हजार रुपयों की आर्थिक सहायता की है— उस गुण-ग्राही **राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर** के प्रति भी मैं, हृदय से साधुवाद अभिव्यक्त करता हूँ।

विश्व में सर्वप्रथम वैदिक भाषा और वैदिक छन्दों में ही भाष्य-सहित अद्वितीय पञ्चम वेद " **राष्ट्र-वेदः** " के रचयिता एवं महामहिम-

भारत-राष्ट्रपतिजी से भी सम्मानित अनेक ग्रन्थ-रत्नों के प्रणेता तथा सम्पादक गद्य-सम्राट् कवि - शिरोमणि **म० म० पण्डित श्रीनवलकिशोरजी काङ्कर** जो मेरे सर्वतोभावेन गुरु भी हैं — उन अपने परम - पूजनीय पितृचरणों के विषय में तो क्या अधिक विशेष निवेदन करूँ ? यह मेरी अभिनव कृति भी अन्य कृतियों के समान ही उनकी ही अनवरत प्रेरणा और सत्पथप्रदर्शन का प्रत्यक्ष मूर्त्त प्रमाण है—

"यदत्र सौष्ठवं किञ्चित् तद् गुरोरेव, मे नहि ।
यदत्राऽसौष्ठवं किञ्चित् तन्ममैव, गुरोर्नहि ।।"

पुस्तक को शुद्ध एवं सुन्दर मुद्रित करने में सहयोग-कर्ता **श्री शङ्कर आर्ट् प्रिण्टर्स, जयपुर** के अधिष्ठाता प्रिय बन्धुवर **पं० श्रीराधेश्यामशर्मा उपाध्याय** तो अनेकशः धन्यवाद के भाजन हैं ही—

विद्वद्विधेय—

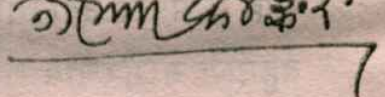

स्वदेश-प्रेम

कथा-वस्तु— पाँच दृश्यों में समाप्त होने वाले इस रूपक के **प्रथम-दृश्य में**— विश्वामित्र मुनि के सुरम्य तपोवन में उनके ज्येष्ठ पुत्र मधुच्छन्दा के साथ बात करता हुआ उसका एक अनुज सूचना देता है कि उनके पिता विश्वामित्र मुनि अजीगर्त के पुत्र शुनःशेप को अपना कृतक पुत्र बना कर अपने सौ पुत्रों में उसी को ज्येष्ठ और श्रेष्ठ मानने लग गये हैं। अनुज को पिता का यह व्यवहार अच्छा नहीं लगता। मधुच्छन्दा के द्वारा समझाने पर भी वह पिता की इच्छा की अनुवर्त्तिता को श्रेयस्कर नहीं समझता। रोष से आविष्ट होकर वह अपने मन के विरोध को प्रकट करने के लिये पिता के पास पहुँच जाता है। **द्वितीय-दृश्य में**—मधुच्छन्दा के आत्मज जेता के साथ अनेक विश्वामित्र-कुमार अपना विरोध दर्शाने के लिये पिता विश्वामित्र के निकट जाते हैं। वे अपना निर्णय बदलने को विश्वामित्र से निवेदन करते हैं। विश्वामित्र उनको समझाते हैं कि शुनःशेप से उनकी संख्या एक सौ एक हो जायेगी और इससे वे अधिक शक्तिशाली भी बन जायेंगे। परन्तु उनको पिता की यह बात रुचिकर नहीं लगती। क्रोध में तमतमाते हुए वे आश्रम और देश का परित्याग करके परदेश के लिये प्रस्थान कर देते हैं। विश्वामित्र उनको देखते ही रह जाते हैं। **तृतीय-दृश्य में**—प्रतीहारी अपनी सभा में विराजमान ईरान देश के सम्राट् के पास जाकर उसको विश्वामित्र मुनि के कुमारों के आगमन की सूचना देता है। फिर वह सम्राट् से आज्ञा पाकर उनको उसके पास पहुँचाकर चला जाता है। ऋषिकुमार सम्राट् को अपना परिचय देते हैं और सम्राट् अपनी अनुसन्धान-प्रयोगशालाओं में उनको सबहुमान नियुक्त करने के लिये मुख्यमन्त्री को निर्देश देता है। ऋषिकुमार मुख्यमन्त्री के साथ चले जाते हैं। **चतुर्थ-दृश्य में**— विश्वामित्र का पौत्र तथा मधुच्छन्दा का पुत्र जेता अपने पितृव्यों की चर्चा करता है कि वे समस्त राजकीय सुविधायें पाकर स्वदेश में प्राप्त ज्ञान-विज्ञान की राशि से ईरान देश को समृद्ध बना रहे हैं। किन्तु उसका स्वयं का मन तो उसमें नहीं रमता। अपने निकट उपस्थित हुए एक पितृव्य को भी वह अपने मन की दशा बताता है। भारत और

ईरान की संस्कृति में विद्यमान अन्तर को भी वह इङ्गित करता है। स्वदेश-प्रेम से आकृष्ट होकर वह स्वदेश ही लौट जाता है। परन्तु उसके पितृव्य वहीं रहते हैं। पञ्चम-दृश्य में—जेता स्वदेश-सीमा में प्रवेश करते ही स्व-मातृभूमि को नमस्कार करता है और उसकी चरणधूलि को भी वह अपने मस्तक पर लगाता है। मातृभूमि से वह क्षमा-याचना करता है कि वह अपने पितृव्यों के कहने में आकर ईरान चला गया था। इन्द्रदेव से भी वह प्रार्थना करता है कि वे ईरान से लौटे हुए उसको अनार्य मान कर उसकी उपेक्षा नहीं करें। ईरान में गये उसके पितृव्य भी जिस प्रकार लौट आयें और उनकी महिमा को समझें उस प्रकार की भी वे कृपा करें।

चरित्र-चित्रण— मधुच्छन्दा – विश्वामित्र मुनि का ज्येष्ठ पुत्र है। पिता की इच्छा के अनुवर्त्ती होकर रहने को वह श्रेयस्कर मानता है। इसी लिये शुनःशेप को निमित्त बना कर अपने अनुजों के द्वारा किये गये विरोध में वह सम्मिलित नहीं होता है और यथाशक्ति उनको विरोध करने से रोकता भी है। दूसरे अनुज पिता के व्यवहार से रुष्ट हैं। पिता विश्वामित्र ने अजीगर्त के पुत्र शुनःशेप को अपना कृतक पुत्र बनाया है। यही विरोध का कारण है। अनुज जब ज्येष्ठ भ्राता मधुच्छन्दा को अपने अनुकूल बनाने में सफल नहीं होते हैं, तब उसके पुत्र जेता को ही जैसे तैसे अपने अनुकूल बना लेते हैं और उसके साथ अपने पिता के पास जा कर अपना मनोगत भाव प्रकट करते हैं। किन्तु विश्वामित्र अपने निर्णय को नहीं बदलते। इससे रुष्ट होकर वे जेता के साथ आश्रम और स्वदेश को ही छोड़कर ईरान देश में चले जाते हैं और वहाँ के सम्राट् से सब सुविधायें पाकर अनुसन्धान-प्रयोगशालाओं में नियुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार अपने अधीत ज्ञान-विज्ञान की विद्या से वे ईरान देश को समृद्ध करने में जुट जाते हैं। जेता पितृव्यों के इस व्यवहार को और ईरान देशवासियों की संस्कृति को अपने देश से विपरीत देख कर वहाँ रहना नहीं चाहता, अपितु स्वदेश ही लौट चलने के लिये पितृव्यों को भी प्रेरित करता है। किन्तु उनको वैसा करने के लिये उद्यत न देख कर स्वयम् अकेला ही लौट आता है, मातृभूमि को प्रणाम करता है, उसकी धूलि को मस्तक पर लगाता है और अपने किये गये कुकृत्य के लिये पश्चात्ताप करता हुआ उससे क्षमा माँगता है। अपने को अनार्य न मानने के लिये इन्द्रदेव से भी प्रार्थना करता है और निवेदन करता है कि उसके पितृव्य भी जैसे इन्द्रदेव की महिमा समझें, वैसा उस इन्द्रदेव को

मानते हुए स्वदेश लौट आयें, ऐसी वह इन्द्रदेव कृपा करें। विश्वामित्र सौ पुत्रों के पिता होते हुए भी अजीगर्त के पुत्र शुनःशेप को अपना कृतक पुत्र बना लेते हैं। यही उनका व्यवहार मधुच्छन्दा को छोड़ कर अन्य पुत्रों के विरोध का और उनके परदेश ईरान चले जाने का प्रबल कारण है। विश्वामित्र दृढ-निश्चय के व्यक्ति हैं। वे अपने पुत्रों के विरोध की भी चिन्ता नहीं करते।

उद्देश्य— स्वदेश में अधीत विद्या से परदेश को समृद्ध करना स्वदेश के प्रति विश्वासघात है। स्वदेश की सेवा में ही मनुष्य की अधीत विद्या की सफलता है। ऐसा समझ कर स्वदेश-सेवा से कभी भी विमुख नहीं होना चाहिये।

पात्र-परिचय

विश्वामित्र— प्रसिद्ध मुनि हैं जो सौ पुत्रों के पिता होकर भी अजीगर्त के पुत्र शुनःशेप को अपना कृतक पुत्र बना लेते हैं।

मधुच्छन्दा— विश्वामित्र मुनि का ज्येष्ठ पुत्र है।

जेता— मधुच्छन्दा का पुत्र और विश्वामित्र का स्वदेशभक्त पौत्र है।

पितृव्य— जेता के पिता मधुच्छन्दा के सहोदर भ्राता हैं। पिता के व्यवहार से रुष्ट होकर ईरान चले जाते हैं और वहीं अपनी अधीत ज्ञान-विज्ञान-विद्या से ईरान को समृद्ध बनाने में संलग्न हो जाते हैं।

स्वदेश–प्रेम

प्रथम-दृश्यम्

(विश्वामित्र-मुनेः सुरम्यः आश्रमः। दूर-दूरे अनेकाः पर्णशालाः दृश्यन्ते। एकस्याः पर्णशालायाः सम्मुखे शिला-पट्टके उपविष्टौ द्वौ ऋषि-कुमारौ एवं वार्तानिरतौ भवतः—)

एकः— अयि तात ! जानासि ? अस्माकं पूज्य-पिता श्रीविश्वामित्रः अद्य अस्मभ्यं नवीनम् एकम् उपहारं समानीतवान्।

मधुच्छन्दाः— (विश्वामित्र-मुनेः ज्येष्ठ-तनयः) बन्धो ! कः सः उपहारः ? त्वरितं मे जिज्ञासां समाधेहि।

अन्यः— शृणु तावत्, अजीगर्त-पुत्रः शुनःशेपः यः अस्ति, तं स्वकीयं कृतक-पुत्रं सङ्कल्प्य अस्माकं भ्रात्ऋणां संख्याम् एकोत्तर-शतं कृतवान्।

मधुच्छन्दाः— अस्मिन् चिन्तायाः का वार्ता ? अस्माकं परिवारे एक-सदस्यस्य संख्या वृद्धिम् एव गता।

अन्यः— चिन्ता तु न काचन अस्ति। परन्तु तं शुनःशेपम् अस्मासु ज्येष्ठं श्रेष्ठं च मनुते। अयं तु शुनःशेपः पैतृक-सम्पत्तेः अपि एकम् अंशम् उपभोक्ष्यति।

मधुच्छन्दाः— तर्हि किं करणीयम् ? सत्पुत्रैः पित्राज्ञा पालनीया एव। पित्रिच्छा-विरुद्धम् आचरन्तः लोकद्वयात् एव प्रच्युताः भवन्ति।

अन्यः— (उत्तेजितः इव) हुम्, अयम् अपि पितुः कः बुद्धिमत्ता-पूर्णः व्यापारः यत् सः औरस-पुत्रान् उपेक्ष्य कृतक-पुत्रे इयत् अधिकं स्निह्येत् ? न अहम् ईदृशम् अन्यायं सहे। अस्य कठोरः प्रतिवादः करणीयः एव भविष्यति। अहम् एकाकी न अस्मि। मया सह सन्ति अन्ये अपि सहोदराः।

मधुच्छन्दाः— तात ! तुभ्यं यद् रोचते, तत् क्रियतां नाम । किन्तु इदम् उचितं न अस्ति । अहं तु सर्वथा पित्रिच्छानुवर्त्तित्वम् एव श्रेयस्करं मन्ये ।

अन्यः— तव पित्रिच्छानुवर्त्तिता त्वया एव सह तिष्ठतु । अहं तु सम्प्रति एव पितरम् उपगच्छामि, आत्म-मनोगतं च निवेदयामि । (सरोषं निर्गच्छति)

द्वितीय-दृश्यम्

(विश्वामित्र-मुनि सन्ध्योपासन-परायणः दृष्टिपथम् अवतरति । मधुच्छन्दसः आत्मजेन जेत्रा सह अनेके तस्य पितृव्याः विश्वामित्र-कुमाराः उपस्थिताः भवन्ति । ते तं नमस्कुर्वन्ति । विश्वामित्रः तान् सङ्केतेन उपवेष्टुम् आदिशति । सर्वे उपविशन्ति । क्षणानन्तरे जपं परिसमाप्य तान्—)

विश्वामित्रः—कथ्यताम्, अद्य कथम् उपस्थिताः सम्भूय यूयम् ? कथं युष्माकं मुखानि म्लानानि विलोकयामि ?

एकः— तात ! स्व-व्यथां श्रावयितुम् एव वयम् उपस्थिताः । अस्याः निराकरणं श्रीमतः एव हस्ते तिष्ठति ।

विश्वामित्रः— हन्त ! विश्वामित्र-पुत्राणाम् अपि व्यथा ? कथ्यतां कथ्यतां, येन व्याधिः सद्यः विनिवार्येत ।

एकः— पूज्य पितः ! भवान् शुनःशेपं कृतक-पुत्रं मनुते, मनुतां नाम । किन्तु अस्मासु औरस-पुत्रेषु तस्मै ज्येष्ठतायाः पद-दानम् अस्मभ्यं नैव रोचते ।

विश्वामित्रः— पुत्राः ! अहं युष्मासु न्यूनं नैव स्निह्यामि । शुनःशेपः विद्यया वयसा च ज्येष्ठः श्रेष्ठः प्रकृत्या एव अस्ति । तेन सह स्पर्धां कृत्वा यूयम् अपि तादृशाः विद्वांसः भवितुं प्रयत्नं कुरुत ।

एकः— भवतु नाम स तथा । किन्तु वयम् अस्य अधीनतायाम् अवस्थानम् आत्मनः अपमानं मन्यामहे । वयम् अनेन सह नैव स्थास्यामः ।

द्वितीयः— तात ! भवान् स्व-निर्णयं परिवर्तयतु । अत्र इमम् एव रक्षतु अथवा अस्मान् रक्षतु । एकस्मिन् कोषे खड्ग-द्वयं स्थातुं न शक्नोति ।

विश्वामित्रः— प्रिय-वत्साः ! किम् अन्यथा मन्यध्वे ? यूयम् इदानीं शतं भ्रातरः । अनेन एकाधिक-शतं सञ्जाताः । युष्माकं शक्तिः वृद्धिं गता एव । शक्तिमन्तः एव अस्मिन् संसारे जीवितुं शक्नुवन्ति, न अन्ये ।

एकः— नहि नहि । न रोचते अस्मभ्यं भवदीयः प्रस्तावः । यदि भवता स्व-निर्णयः नैव परिवर्त्त्यते, तर्हि वयम् एव स्वयम् अनेन सह भवन्तं भवदीयम् आश्रमं देशं च परित्यज्य परदेशं गच्छामः । (सरोषाः सर्वे अपि निर्गच्छन्ति । विश्वामित्रः तान् स-विषादं वीक्षमाणः एव तिष्ठति)

तृतीय-दृश्यम्

(आर्यान्यि [ईरान] नामक-पारसीक-देशाधिराजः स्वसभायाम् उपविष्टः अस्ति । तं परितः केचन सभासदः समासीनाः सन्ति)

प्रतीहारी— (प्रविश्य सप्रणामम्) अन्नदातः ! द्वारि देवं द्रष्टुकामाः केचन आर्य-देशीयाः ऋषि-कुमाराः उपस्थिताः सन्ति । आत्मानं ते मुनि-विश्वामित्र-तनयान् परिचाययन्ति ।

पारसीकनरेशः— (सभासदः प्रति साभिप्रायं समवलोक्य) का क्षतिः ? प्रवेश्यन्तां ते ।

प्रतीहारी— यद् आज्ञापयति महाराजः (प्रणम्य निर्गच्छति ऋषि-कुमारान् च समुपसृत्य) आयान्तु आयान्तु भवन्तः, अनेन पथा माम् अनुसरन्तः आयान्तु । महाराजः भवद्-दिदृक्षुः एव विराजते ।

ऋषिकुमाराः— आम्, आम् । चल्यताम् अग्रे अग्रे । वयम् अपि अनुसरामः ।

प्रतीहारी— तथा भवतु । (ऋषि-कुमारान् आदाय सभा-भवने उपतिष्ठते)

ऋषिकुमाराः— (हस्तौ उद्यम्य) जयतु जयतु महाराजः । अप्रतिहत-शासनः प्रमोदतां देवः ।

पारसीकनरेशः— (अभ्युत्थाय साभिवादनम्) अनुगृहीतः अस्मि । आदिश्यतां कीदृशः नियोगः अस्मै विधेयाय ?

एकः ऋषिकुमारः— राजन् ! वयं मुनि-विश्वामित्र-तनयाः । ततः एव समधिगत-सकल-ज्ञान-विज्ञान-शिक्षाः अत्र आगताः स्मः ।

पारसीकनरेशः— सम्मान्याः ! न किमपि चिन्तनीयम्। स्वाश्रमे इव अत्र स-सुखं स्थीयताम्। वयम् अपि इह भारतीयाः आर्याः इव अग्नि-सूर्यादीनाम् उपासनां कुर्महे।

ऋषिकुमाराः— तेन हि यशस्वी भवतु महाराजः।

पारसीकनरेशः— (मुख्यामात्यं प्रति) अयि मन्त्रि-प्रवर ! इमान् ज्ञान-विज्ञान-शालिनः मुनि-कुमारान् अस्मदीयासु अनुसन्धान-प्रयोग-शालासु योग्यतानुसारं यथास्थानं नियुनक्तु भवान्। एषाम् आवास-भोजनादि-व्यवस्थां सर्वकारीय-नियमानुसारं समुचितां सम्पादयतु। कीदृशः अपि अभावः एतान् एतस्मिन् परदेशे न व्याप्नुयात्, इदम् अवश्यं ध्याने रक्षतु।

मुख्यामात्यः— (उत्थाय सप्रणामम्) यद् आज्ञापयति देवः। (ऋषि-कुमारान् प्रति) आगम्यतां मया सह चल्यताम्। अहं करोमि भवदीयं सर्वं प्रबन्धम्। (ऋषि-कुमाराः मुख्यामात्यम् अनुयान्ति)

चतुर्थ-दृश्यम्

जेता— (विश्वामित्र-पौत्रः मधुच्छन्दसः पुत्रः) स्वदेशं परित्यज्य अत्र आयातानाम् अस्माकं बहु-समयः व्यतीतः। सर्वे अपि मम पितृव्याः सर्वाभिः राजकीय-सुख-सुविधाभिः रममाणाः सन्ति, इमं च देशं स्वदेशे लब्ध-ज्ञान-विज्ञान-द्वारा उत्तरोत्तरं समृद्धं कुर्वन्तः वर्तन्ते। किन्तु मम तु मनः अत्र स्वल्पम् अपि नैव रमते। किं करोमि ? केन सह परामृशामि ? (चिन्ता-मुद्रायाम् अवतिष्ठते)

एकः पितृव्यः— (सहसा जेतारम् उपसृत्य) अरे जेतः ! कथं सचिन्तः इव तिष्ठसि ? सदा उन्मनसम् एव त्वां विलोकयामि। किम् आत्मानं सर्वासु सुविधासु मिलितासु अपि नित्यं सन्तापयसि ?

जेता—पूज्य पितृव्य ! मम तु मनः अत्र परदेशे रमते एव न। हन्त ! अत्रत्यम् अपि कीदृशं जीवनं ? यत्र पशुवत् देह-पोषणातिरिक्ता काचन संस्कृतिः एव न अस्ति। अत्र तु मञ्जुलः वेद-ध्वनिः अपि न श्रूयते, यज्ञीया सौरभमयी मनोमोहिका स्वर्णिमा धूमलेखा अपि न दृष्टिपथम् आयाति। न कुत्रचित् दानस्य प्रवाहः, न वा पूजायाः सम्भारः एव दृश्यते। अत्रत्याः पारसीक-धर्मानुयायिनः यज्ञ-संस्कृतिं तस्याः कर्मफलप्रदात्ऋणां देवानाम् अस्तित्वम् एव नैव स्वीकुर्वन्ति।

पितृव्यः— अरे ! त्वाम् अत्रत्या संस्कृतिः प्रभावयति एव न। अन्ततः असि अपि तु पितुः मधुच्छन्दसः एव आत्मजः।

जेता— सत्यं कथयामि । सन्ध्या-पूजा-जप-तप-उपस्थान-यज्ञ-यागादि-शून्यम् इहत्यं वातावरणं मह्यं तु शान्तिं ददाति एव न। किं न दृश्यते, अद्यत्वे अत्र कीदृशः राष्ट्र-व्यापी अकालः जनताम् उत्पीडयन् अस्ति ? कीदृशी भीषण-शुष्कता सर्वत्र हाहाकारम् उत्पादिवती ?

पितृव्यः— किन्तु अकालस्य शुष्कतायाः च अस्मासु तु न कश्चन अपि प्रभावः। अस्मभ्यं दीयमान-सुविधासु न सर्वकारेण का अपि न्यूनता कृता। पुनः त्वं किं वृथा चिन्तनेन आत्मानं सन्तापयसि ?

जेता— यदि ईदृशी अकाल-स्थितिः शुष्कता-विभीषिका च अस्माकं जन्मभूमौ भारते अभविष्यत्, तर्हि अवश्यं सर्वे अपि ऋषि-मुनयः मिलित्वा कारीर-यागेन देवेन्द्रं पर्यतोषयिष्यन्, अवृष्टिम् अकालं च पर्यहरिष्यन्। मम अपि स्वल्प-शक्तेः तत्र अवश्यं सदुपयोगः अभविष्यत्। किन्तु अत्र तु जनानां कुत्रचित् कर्मणि कर्म-फले कर्म-प्रदातरि च देव-वृन्दे विश्वासः एव न विद्यते। मम तु ज्ञानं विज्ञानम् अत्र आगत्य सर्वथा विफलम् एव संवृत्तम्।

पितृव्यः— यद् अस्माकं वशे न अस्ति, तत्र चिन्तया किम् अपि न सिध्येत्।

जेता— सिध्येत् कथं न ? अहं तु अधुना क्षणम् अपि अत्र स्थातुं न अभिलषामि। तत्र मम जन्मभूमिः मां प्रतीक्षते। श्रूयते, तत्र अपि अद्यत्वे भयानकः अकालः असीमा शुष्कता च मम देश-वासिनः उत्पीडयति। पशु-धनं तत्र क्षीयते एव। अस्यां स्थितौ अहं स्वदेशे एव परावर्त्तिष्ये, यथाशक्ति च अवर्षणस्य शुष्कतायाः च निवारणार्थं स्व-विद्यायाः सदुपयोगं करिष्यामि। यदि भवन्तम् अपि स्व-जन्मभूमि-प्रेम आकर्षति, तर्हि अन्य-भ्रातृभिः सह चलतु भवान् मया सह, अन्यथा अहम् एकः एव परावर्त्ते।

पितृव्यः— धिक् मूढ ! न रोचते अस्मभ्यं तव अयम् असामयिकः प्रस्तावः। त्वं यथा इच्छसि, तथा कुरु। न वयम् इह स्वर्ग-सुलभं सुख-वैभवं परित्यक्ष्यामः।

जेता— बाढम्, अहम् एव मूढः भवामि। ज्ञानिनः भवन्तः अत्रत्याः जनाः इव क्षण-भङ्गुरे ऐन्द्रिय-सुखे रमन्ताम्। अहं तु इतः गच्छामि।

(निर्गच्छति)

पञ्चम-दृश्यम्

जेता— (स्वदेश-परिसरे प्रविश्य सहर्षम्) हन्त ! 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी', नमो नमः परमादरणीये मातृभूमे ! तव चरण-धूलिः मम मस्तके विलसतु (धूलिं स्व-मस्तके योजयति) अहं स्वपितृव्यैः सह अनिच्छन् अपि त्वां परित्यज्य आर्यान्य-देशम् अर्थात् ईरान-देशं गतः। धृष्टताम् इमां मे त्वं कृपया क्षमस्व। परन्तु सौभाग्यात् ततः अद्य परावृत्तः अस्मि, तव अङ्के च उपस्थाय शान्तिम् अनुभवामि। (आकाशे ऊर्ध्वम् अवलोक्य प्रणम्य च) हे वीरवर इन्द्रदेव ! अहं मधुच्छन्दसः पुत्रः जेता भवता स्वोपासकेभ्यः दीयमानैः विविध-पुरस्कारैः वरैः च समाकृष्टः सन् आर्यान्य-देशतः अर्थात् ईरान-देशतः स्वदेशं प्रत्यागतः अस्मि। माम् अनार्यं मत्वा नैव उपेक्षतां भवान्। अद्य अपि अहम् आत्मानम् आर्यम् एव मन्ये। इदम् एव न, मया सह आर्यान्य-देशे गताः मम पितृव्याः अपि यथा भवदीयं महिमानं जानन्तु, अभीष्ट-दातारं भवन्तं च स्तुवन्तः स्वदेशम् एव अत्र प्रत्यागच्छन्तु, भवन्तम् एव च स्वकीयम् आराध्यदेवम् अभिमन्यन्ताम्, तथा अनुग्रहं कर्तुं भवन्तम् अहं पुनः पुनः प्रणिपत्य प्रार्थये इति (शिरः नमयति)

(शनैः शनैः पटाक्षेपः)

प्रेम-परीक्षा

कथा-वस्तु— दो दृश्यों वाले इस रूपक के **प्रथम-दृश्य में**—हिमालयराज की पुत्री एक उपत्यका के हरे भरे प्रदेश में तपस्या करती हुई ध्यानावस्था में दृष्टिगोचर होती है। उसकी सखी जया और विजया पार्वती की कठोर तपस्या का वर्णन करती हैं। विभिन्न ऋतुओं में की जाती हुई तपस्या का वे दिग्दर्शन कराती हैं। पर्ण-भक्षण का परित्याग कर देने से पार्वती को 'अपर्णा' नाम दिये जाने का विजया प्रस्ताव भी उपस्थित करती है। जया उसका अनुमोदन कर देती है। दोनों के वार्तालाप के मध्य में ही वहाँ एक तेजस्वी जटाधारी ब्रह्मचारी आता हुआ दीख पड़ता है। उसके आतिथ्य-सत्कार की तैयारी करने के लिये विजया जया का हाथ पकड़ कर चली जाती है। **द्वितीय-दृश्य में**—पार्वती से आतिथ्य-सत्कार पाकर सन्तुष्ट बना हुआ ब्रह्मचारी पार्वती को उसकी तपस्या का कारण पूछता है। सम्भावित कारणों में वह अनेक कारण स्वयं ही बताता है। किन्तु पार्वती के सङ्केत से उसकी सखी जया उनका नकारात्मक उत्तर देती है। बीच में पार्वती के उष्ण निःश्वास से ब्रह्मचारी अपना निर्णय देता है कि उसकी तपस्या किसी प्रणयी को प्राप्त करने के लिये है। किन्तु वह प्रणयी अवश्य पाषाण-हृदय है जो कामना करने वाली भी सुन्दर राजकुमारी की उपेक्षा कर रहा है। ब्रह्मचारी अपनी तपस्या के उपार्जित फल का अर्ध भाग पार्वती को देने की प्रतिज्ञा करता है जिससे वह अपने प्रणयी को प्राप्त कर ले। किन्तु इस से पूर्व वह उसके उस प्रणयी का नाम जानना चाहता है। पार्वती के सङ्केत से उसकी सखी विजया ब्रह्मचारी को बताती है कि पार्वती के प्रणयी हैं त्रिलोकपति देवाधिदेव शङ्कर। परन्तु वे कब अनुग्रह करेंगे? यह कोई नहीं जानता। ब्रह्मचारी विजया के कथन को सत्यापित करने के उद्देश्य से पार्वती को पूछता है कि क्या उसका कहना सही ही है? पार्वती के द्वारा विजया के कथन की पुष्टि कर देने पर ब्रह्मचारी शङ्कर के सम्बन्ध में अपना सब ज्ञान प्रकट करता है और उसको उसके साथ विवाह के योग्य न मान कर उससे मन हटाने के लिये

नाना प्रकार से पार्वती को समझाता है। परन्तु पार्वती अपने दृढ निश्चय से स्वल्प भी विचलित नहीं होती है। ब्रह्मचारी को उसका प्रतिवाद करने के उद्देश्य से तैयार जान कर पार्वती उसको वैसा करने से रोकने के लिये जया को कहती है। किन्तु उससे अतिथि के तिरस्कार की सम्भावना करके उस पाप से दूर रहने के लिये ज्यों ही वह स्वयं ही वहाँ से उठ कर जाने के लिये उद्यत होती है त्यों ही ब्रह्मचारी अपना शङ्कर का रूप प्रकट करके उसके सामने खड़ा हो जाता है और अपने आपको उसकी तपस्या से खरीदा हुआ दास बताता है। पार्वती स्वाभिलषित शङ्कर के इस प्रकार प्रकट हो जाने से स्तब्ध हो जाती है। उसकी स्थिति जया विजया के सम्मुख मार्ग में आगे पर्वत के आ जाने से जोर से बहती चली आती हुई व्याकुलित सिन्धु नदी के समान बताती है। अन्त में जया के प्रस्ताव से विजया किङ्कर्त्तव्य-विमूढ पार्वती को शङ्कर से मुक्त करवाने के लिये शङ्कर से निवेदन करती है कि वे पार्वती को विधिवत् प्राप्त करने के लिये उसके पिता पर्वतराज से ही अभ्यर्थना करें। तब शङ्कर 'तथास्तु' ऐसा कह कर वहाँ से प्रस्थान कर जाते हैं।

चरित्र-चित्रण— पार्वती सुकुमारी होती हुई भी विदुषी है। वह देवाधिदेव शङ्कर को पति के रूप में प्राप्त करने के लिये तपस्या करती है, जिससे वह अपने उद्देश्य में सफल भी हो जाती है। वह अपने आप में सुदृढ है। शङ्कर के विरुद्ध दिये गये ब्रह्मचारी के तर्कों से वह स्वल्प भी विचलित नहीं होती है। अतिथि-तिरस्कार को भी वह उचित नहीं मानती है। इसी लिये वह ब्रह्मचारी को कुछ भी न कह कर स्वयं ही वहाँ से उठ कर जाने के लिये उद्यत हो जाती है। द्वितीय पात्र ब्रह्मचारी है जो स्वयं साक्षात् शङ्कर ही पार्वती के प्रेम की परीक्षा करने के लिये ब्रह्मचारी के रूप में पार्वती के पास उपस्थित होता है। सर्वज्ञ होता हुआ भी वह प्रश्नों से पार्वती के हृदय की बात जान लेता है। शङ्कर को वरण के अयोग्य बता कर वह पार्वती को उससे मन हटाने के लिये परामर्श देता है। किन्तु उसके दृढ निश्चय से वह उससे आशु तुष्ट हो जाता है और शङ्कर का रूप प्रकट करके अपने को उसकी तपस्या से खरीदा हुआ दास बताने में भी सङ्कोच नहीं करता है। जया और विजया तो पार्वती की अन्तरङ्ग सखियाँ ही हैं जो तपस्याकाल में भी पार्वती की सम्यक् सेवा करती हैं और वे ही ब्रह्मचारी को पार्वती की ओर से उसके सभी प्रश्नों का उत्तर भी देती हैं।

उद्देश्य— कठिन से भी कठिन कार्य तपस्या से सिद्ध किया जा सकता है— यही प्रमाणित करने के लिये इस रूपक के अवतारण में प्रमुख लक्ष्य है। जब तक कार्य सिद्ध न हो, तब तक बीच में व्यक्ति को कभी भी किसी प्रकार विचलित नहीं होना चाहिये—यह द्वितीय उद्देश्य है।

पात्र-परिचय

पार्वती— पर्वतराज हिमालय की पुत्री है।

जया, विजया— पार्वती की अन्तरङ्ग सखियाँ हैं।

ब्रह्मचारी— अपने प्रति पार्वती के प्रेम की परीक्षा करने वाले स्वयं शङ्कर हैं।

प्रेम-परीक्षा

प्रथम-दृश्यम्

(हिमालयस्य उपत्यकायाम् एकस्मिन् हरित-भरित-प्रदेशे सुरम्ये प्रशान्ते तपोवने पर्वतराज-तनया तपस्याम् आचरन्ती ध्यान-मग्ना दृष्टिपथम् अवतरति। रङ्ग-विरङ्ग-विविध-विहगानां कल-रवेण वातावरणं मनोमोहकं वर्त्तते। मृग-शावकाः स्व-मातृभिः सह शाद्वलम् अध्यासीनाः रोमन्थम् आचरन्तः सन्ति। गिरि-निर्झरेभ्यः प्रवहन् जलराशिः अपि स्वमधुर-ध्वनिना श्रोत्रयोः अमृत-धाराम् इव सिञ्चति। ईदृशे सुभगे क्षणे—)

जया— सखि विजये ! अस्माकम् इयं प्रिया राजकुमारी स्वकीयं क्रीडोपभोग-क्षमम् आयुः कथं कठोर-तपश्चर्यायां क्षपयति ? बालारुण-वल्कल-परिधाना जटा-मौञ्जी-धारिणी इयं सुधृत-कर-रुद्राक्ष-माला तपस्विनी स्वीयं विलास-चेष्टितं लता-सन्ततिषु, विलोल-विलोकितं च हरिणाङ्गनासु निक्षेपम् इव निहितवती।

विजया— आम्, जये ! ग्रीष्मर्त्तौ चतुर्णां हविर्भुजां मध्ये आत्मानं समुपस्थाप्य सवितारं प्रति वीक्षमाणया अनया दुष्करं तपः समनुष्ठितम्। एतेन अस्याः अपाङ्गयोः श्यामिकया अपि स्थानं कृतम्।

जया— सखि विजये ! कठोरं तपः समाचरन्ती तु इयं वृक्ष-समूहः इव मेघ-जलेन अमृतनिधि-चन्द्र-किरण-जालैः च एव जीवति।

विजया— आम्, आलि ! वर्षर्त्तौ शिला-शयायाः अनिकेत-वासिन्याः अस्याः महातपसः विद्युन्नेत्रैः वीक्षिकाः रात्रयः एव साक्ष्ये इव स्थिताः।

जया— सखि विजये ! हेमन्ते शीत-वातान् मर्षयन्ती इयं रात्रीः अपि जल-मध्ये एव स्थित्वा व्यत्यगमयत्।

विजया— आम्, आलि ! इदं सर्वं ज्ञायते। विशीर्ण-द्रुम-पर्ण-वृत्तिता तपस्यायाः चरम-सीमा भवति। परम् इयं तु पर्णोपभोगम् अपि परित्यक्तवती। सम्प्रति इमाम् 'अपर्णाम्' एव व्याहरिष्यावः।

जया— सखि विजये ! सर्वथा अनुमोद्यते समर्थ्यते च तव एषः प्रस्तावः । एतस्याः सुदुष्कर-तपस्यया प्रभाविताः ऋषि-मुनयः अपि इमां द्रष्टुं गतेद्युः एव अत्र अभ्युपागमन् ।

विजया— अरे ! तत्र दृष्टि-निक्षेपं कुरु । कः असौ पालाश-दण्ड-धारी ब्रह्ममयेन तेजसा ज्वलन् इव जटिलः ब्रह्मचारी इतः एव समायाति ? सर्वथा सत्करणीयः अयम् । चल, अस्य आतिथ्य-सज्जां सम्पादयाव । (जयां हस्ते निगृह्य निर्गच्छति)

द्वितीय-दृश्यम्

(एकस्मिन् दर्भासने समुपविष्टः ब्रह्मचारी, तत्सम्मुखे अन्यस्मिन् आसने च नतानना सौम्य-मूर्त्तिः पार्वती उपविष्टा दृश्यते । पार्श्वे एव तस्याः सखी जया विजया च विद्यते)

ब्रह्मचारी— अयि नगाधिराज-नन्दिनि ! भवती मां पूर्णतः सत्कृतवती । भवत्याः एतेन कृत्येन अतीव सन्तुष्टः अस्मि । यदि अन्यथा न मन्यसे, तर्हि ब्राह्मण-सुलभ-चापल्येन किञ्चित् भवतीं प्रष्टुं समुत्कण्ठते मे चेतः ।

पार्वती— ओम् , महाशय ! निःशङ्कं पृच्छ्यताम् ।

ब्रह्मचारी— शृणोतु पर्वतराज-पुत्रि ! प्रथमं तु भवत्याः जन्म हिरण्य-गर्भस्य कुले समजनि । तदुपरि त्रैलोक्ये अपि दुर्लभं सर्वम् अपि सौन्दर्यं सम्भूय भवति विराजते । नवं भवत्याः वयः । इतः अधिकं तु कथयतु, तपः-फलं किं भवितुं शक्नोति ? सकलम् अपि ऐश्वर्यं भवत्यै सुलभम् । भवत्याः न अन्यत् किञ्चित् अनिष्टं पश्यामि यद् अपाकर्तुं भवती व्रतम् आचरति । पितृ-गृहे भवत्याः कुतश्चित् तिरस्कारः अपि न सम्भाव्यते । अन्यः कश्चित् त्वां विप्रकर्तुं धृष्टताम् अनुतिष्ठेत्, इदं तु स्वप्ने अपि चिन्तयितुं न शक्यते । अपि नाम नाग-फण-मणिं कः समुद्धर्तुम् उत्सहेत ? तत् कथयतु, आत्मनः तपसः किं कारणम् ? (पार्वती ब्रह्मचारिणे उत्तरं दातुं जयां प्रति उदीक्षते)

जया— (पार्वत्याः अभिप्रायम् आलक्ष्य) ब्रह्मचारि-महोदय ! अस्मदीय-सख्याः तपसः एतेषु न वर्त्तते एकः अपि हेतुः ।

ब्रह्मचारी— (पार्वतीं प्रति) तत् पुनः कथं नवे वयसि विभूषणानि परित्यज्य वृद्धावस्थोचितं वल्कलं धृतवती भवती ? यदि स्वर्ग-कामना तपः-कारणं, तर्हि वृथा एषः परिश्रमः; यतो हि भवत्याः पितृ-प्रदेशाः हि विद्यन्ते देव-भूमयः। अथ यदि पति-प्राप्त्यै एवम् उपक्रमः, तर्हि अलम् एतेन। 'न रत्नम् अन्विष्यति, मृग्यते हि तत्'।

(पार्वती उष्णं दीर्घं निःश्वसिति)

ब्रह्मचारी— (तथाविधां ताम् अवलोक्य) हन्त ! भवत्याः अयं निःश्वासः सर्वं हृद्-गतं प्रकटयति। नूनं भवदीयः अभिलषितः दयितः जनः वर्तते महान् निष्ठुरः, यः कर्णाभूषण-शून्ययोः भवत्याः कपोलयोः शिथिल-बन्धनाम् अवलम्बमानां पीत-जटा-सन्ततिम् अपि उपेक्षते। गिरिराज-कुमारि ! कियत्कालम् एवं श्रमम् आचरिष्यति ? मया अपि कतिचन तपांसि प्रतप्तानि। तेषाम् अर्द्धांश-फलैः भवतीं संयोक्तुम् अभिलषामि। तेन भवती स्वाभीप्सितं वरं सुलभताम्। परन्तु पूर्वं कथयतु, कः भवत्याः सः दयितः जनः ?

(पार्वती पार्श्व-वर्त्तिनीं वयस्यां विजयां विवर्त्तितानञ्जन-नेत्रं वीक्षते)

विजया— (पार्वत्याः हृद्-गतं विदित्वा) ब्रह्मचारि-महानुभाव ! यदि विद्यते कुतूहल-विशेषः, तर्हि श्रूयताम्। इयम् अस्मत्-सखी महामहिम-शालिनः परमैश्वर्य-सम्पन्नान् चतुर्दिगीशान् इन्द्र-यम-वरुण-कुबेरान् देवान् विहाय देवाधिदेवं शङ्करं महादेवं शिवम् एव पति-रूपे समवाप्तुम् अभिलषति। तस्य त्रैलोक्य-पतेः प्राप्तेः इतरम् उपायं न अवलोक्य पित्रनुमत्या अत्र एवं तपस्यां समाचरति। अनया इह तपोवने स्वपाणि-पल्लवाभ्यां रोपितेषु अपि वृक्षेषु फलानि प्रादुर्भूतानि, परम् अस्याः मनोरथस्य तु अङ्कुरोदयः अपि न सञ्जातः। न जाने, कदा भगवान् त्रिलोचनः चन्द्रमौलिः शिवः इमां तपः-कृशाम् अस्मत्-सखीम् अनुग्रहीष्यति?

ब्रह्मचारी— (उच्चैः हसन् पार्वतीम् अभिलक्ष्य) कथयतु पर्वतराज-पुत्रि ! किम् इदम् इत्थम् एव ?

पार्वती— (स-सङ्कोचम्) अयि वर्णि-प्रवर ! भवता सत्यम् एव श्रुतम्। अयं जनः उच्च-पदस्य लिप्सुः। तपः एतत् तदर्थम् एव। मनोरथानां गतिः कुत्र न वर्त्तते ?

ब्रह्मचारी— (गम्भीर-मुद्रया) हन्त मुग्धे ! तुच्छ-वस्त्वाकृष्ट-चित्ते ! ! गिरिराज-तनये ! ! ! अहं श्मशान-सेविनं चिता-भस्माऽवलिप्त-

देहं विरूपाक्षं कपाल-पाणिं शङ्करं सम्यक् परिचिनोमि। अमङ्गल-कर्मसु एव वर्तते तस्य सर्वथा प्रवृत्तिः। अहं तु कथम् अपि न समर्थये तं प्रति भवत्याः एतां भावनाम्।

पार्वती— (क्रोधाविष्ट-चेताः रक्त-नयना) आः! न जानाति भवान् परमार्थतः सर्वेश्वरं शिवम्। अतः एव इत्थं कथयति। मन्द-बुद्धयः एव व्यक्तयः महात्मनां दुर्विज्ञेयम् अलौकिकम् असामान्यं चरितं सदा द्विषन्ति। अवदधातु, ऐश्वर्याऽभिलाषुकाः एव जनाः मङ्गल-सेविनः भवन्ति। किं नाम खलु प्रयोजनं निष्काम-महेशस्य मङ्गलैः? असौ तु अकिञ्चनः अपि लोकानां विभूतिदः, श्मशान-विचरणशीलः अपि त्रैलोक्य-स्वामी, विरूपाक्षः अपि विश्व-कल्याण-कारी वरीवर्त्ति।

ब्रह्मचारी— भवती एव किञ्चित् विचारयतु, यदा सः विवाह-काले सर्पावेष्टित-करेण भवत्याः कङ्कण-विभूषित-पाणिं स्प्रक्ष्यति, कथम् असौ पाणिः सहिष्यते? वधूजनोचितं नवोढायाः भवत्याः हंसाकृति-चित्रितं दुकूलं तस्य च शोणित-चिह्नितं गज-चर्म किं क्वचित् मिथः सङ्गतं भविता? अयि, एतावत् एव न, किन्तु यदा गजारोहण-योग्या भवती विवाहानन्तरं तेन सह तद्वाहनं वृद्धं बलीवर्दम् आरुह्य गमिष्यति, तदा भद्र-जनैः उपहास्यमानाम् आत्मानम् अनुभूय किं ग्लानिं न अधिगमिष्यति? सत्यं तु इदम् अस्ति यत् शिव-समागमं कामयमाना कान्तिमती चन्द्रकला, अस्य भुवनस्य नेत्र-कौमुदी भवती च उभे अपि सुतरां शोचनीयताम् एव उपगते।

पार्वती— (स-भ्रूभङ्गम्) अलम् अलम्। विश्व-मूर्त्तेः शङ्करस्य शरीरम् अलङ्कारालङ्कृतं भवतु, सर्पावेष्टितं वा भवतु, दुकूल-धरं भवतु, गजचर्मावृतं वा भवतु, चन्द्र-शेखरं भवतु, कपाल-धारि वा भवतु, न केनचन अपि विज्ञातुं शक्यते।

ब्रह्मचारी— अयि गिरिराज-कुमारि! अग्रे अपि शृणोतु। अस्य महेश्वरस्य जन्म एव ज्ञातं न वर्तते। अस्य दिगम्बरता तथा श्मशान-वासिता तु एतं दरिद्रं गृह-विहीनं च सूचयति एव। हे सुन्दरि! वरेषु अपेक्षित-वस्तुषु किम् एकम् अपि भवत्याः अभिलषिते दयिते अस्ति? अतः मम परामर्शं मानयतु। अस्मात् असद्-अभिलाषतः आत्म-मनः निवारयतु। कुत्र अमङ्गल-वस्तुधारी शिवः? कुत्र च पुण्य-लक्षणा भवती सुन्दर-शरीरा मृग-नयनी?

पार्वती— आम्, पतितात्मा भवान् अस्य दोष-राशिम् उद्भावयन् अपि एतस्य जन्म अविज्ञेयम् उक्त्वा सर्वोपरि सत्यम् एकं तु प्रकटितं कृतवान् एव। यः ब्रह्मणः अपि निदानं कथ्यते, कथम् अस्य जन्म ज्ञेयं भवितुं शक्नोति ? श्मशान-वासिनः अपि अस्य देहेन संस्पृष्टं चिता-भस्म तु उपासकानां रजः विशोधयति। ताण्डव-नृत्ये निपतितम् इदं देवाः अपि शिरसि धारयन्ति। महेन्द्रः अपि अस्य दरिद्रस्य पादौ प्रणमति। अथवा त्यज्यताम् अयं विवादः। यथा भवान् कथयति, भवतु सः महेश्वरः तथा एव। मम तु मनः तस्मिन् एव रमते। स्वेच्छाचारी न बिभेति लोकापवादात्।

(ब्रह्मचारी अग्रे वक्तुम् उद्यतः भवति, तस्य तादृशीं चेष्टां विलोक्य)

पार्वती— अयि सखि जये ! पश्य पश्य, प्रस्फुरिताधरोष्ठः अयं धृष्टः तथा प्रतीयते यथा खलु पूर्वम् इव अग्रे अपि किञ्चित् असम्बन्धं प्रलपितुम् इव समुद्यतः। सखि ! त्वरितं निवार्यताम् एषः, यतो हि न केवलं पूज्यानां निन्दकः एव पाप-भाक् भवति, अपि तु निन्दा-श्रोता अपि तेन लिप्यते। अथवा किम् अतिथि-तिरस्कारेण ? अहम् एव स्वयम् इतः अपसरामि (उत्थाय गन्तुम् उद्यता भवति)

ब्रह्मचारी— (शङ्कर-स्वरूपम् आस्थाय पार्वतीं च समवलम्ब्य) मा तावत् मानिनि ! मा तावत्। वृषराज-केतनः अयम् अहं चन्द्रमौलिः अवनताङ्ग्याः भवत्याः तपोभिः क्रीतः अद्य-प्रभृति भवदीयः दासः सञ्जातः अस्मि। अन्यथा मा भावयतु माम्। भवत्याः मां प्रति भाव-प्रवणं मनः परीक्षितुम् एव एवम् आचरितं मया। तत् क्षम्यताम् अयम् आत्मीयः जनः (तदुत्तर-लिप्सुः तदभिमुखं पश्यति)

जया— (विजयां प्रति) विजये ! सिद्धं नः सख्याः समीहितम्। अकस्मात् स्वाभीप्सितं दयितं वीक्ष्य इयम् अधुना वेपथुमती सरसाङ्ग्यष्टिः च संवृत्ता। अन्यत्र प्रस्थातुं निक्षेपणाय स्वीयम् उद्धृत-पदम् उद्वहन्ती एषा शैलाधिराज-तनया मार्गाचल-व्यतिकराकुलिता सिन्धुः इव लज्जया न प्रयाति न च तिष्ठति एव।

विजया— सत्यं प्रोच्यते त्वया। सम्प्रति तु अस्याः तपोजन्यः क्लेशः अपि अपसृतः एव। फल-प्राप्त्या क्लेशः क्लेश-रूपे नैव तिष्ठति।

जया— तद् एनां किं कर्त्तव्य-विमूढां सखीम् अस्मात् मोचयाव।

विजया— आम्, एवम् एव अनुष्ठीयताम्। (शिवं प्रति) भोः देवाधिदेव ! महान् अनुग्रहः अस्यां भवदीयः। इदानीम् इमां विधिवत् परिग्रहीतुं भवान् अस्याः जनकं गिरिराजम् एव अभ्यर्थयताम्।

शङ्करः— (विजयाम् अभिमुखीभूय) अनुमोदितः प्रस्तावः हृदयेन। तथाऽस्तु। साधयामः तावत्। (पार्वतीं साभिप्रायं पश्यन् निर्गच्छति, पार्वती च अपि जया-विजयाभ्यां सह तं समौनं पश्यन्ती तिष्ठति)

(शनैः शनैः पटाक्षेपः)

नन्द-दीक्षा

कथा-वस्तु— सात दृश्यों में समाप्त होने वाले इस रूपक के **प्रथम-दृश्य में**— जब नन्द को दासी के मुख से ज्ञात होता है कि महात्मा सुगत उसके यहाँ भिक्षा लेने के लिये उपस्थित हुए और भिक्षा न पाकर लौट गये, तब वह अपनी पत्नी से अनुमति लेकर सुगत का दर्शन करने के लिये रवाना हो जाता है। **द्वितीय-दृश्य में**— नन्द सुगत के पास पहुँच कर प्रणाम करता हुआ उनसे अपने अपराध के लिये क्षमा माँगता है और भिक्षा के लिये घर चलने की प्रार्थना करता है। परन्तु सुगत उसके हाथ में भिक्षा का पात्र देकर उसको विहार में ले आते हैं। घर जाना चाहता हुआ भी नन्द घर लौट नहीं पाता है। विहार में सुगत नन्द को समझा कर आनन्द के द्वारा उसका सिर मुँडवा कर उसको भिक्षु बना देते हैं। **तृतीय-दृश्य में**—पति को लौटता हुआ न देख कर नन्द की पत्नी बड़ी व्याकुल और चिन्तातुर हो जाती है। उसकी सखियाँ उसको नाना प्रकार से तसल्ली देती हैं। **चतुर्थ-दृश्य में**—भिक्षु बना हुआ भी नन्द पत्नी के वाक्य का स्मरण करता हुआ घर लौटने के लिये अत्यन्त आतुर हो उठता है। आनन्द उसको अपनी पत्नी से मन हटा कर ज्ञान बल से मन को वश में करने के लिये परामर्श देता है। **पञ्चम-दृश्य में**—आनन्द के मुख से नन्द की दशा जान कर सुगत नन्द को उसकी मानसिक व्यथा दूर करने के लिये स्वर्ग में ले जाते हैं। वहाँ पत्नी से अत्यधिक सुन्दर अप्सराओं को पाने के लिये सुगत के निर्देश से तपश्चर्या करने हेतु मन बना कर नन्द सुगत के साथ विहार लौट आता है। **षष्ठ-दृश्य में**— आनन्द अप्सराओं की प्राप्ति के लिये तपश्चर्या करते हुए नन्द के पास जा कर और स्वर्गीय सुखों की अस्थिरता बता कर नन्द को मोक्ष की ओर ध्यान देने के लिये प्रोत्साहित करता है। तब नन्द सुगत के निकट पहुँच कर अपना हार्दिक मन्तव्य प्रकट करता है। उससे सन्तुष्ट हुए सुगत उसको श्रद्धालु, शीलवान् और जितेन्द्रिय बनने का उपदेश देते हैं। **सप्तम-दृश्य में**— अर्हत्व को प्राप्त किया हुआ नन्द सुगत का दर्शन करने के लिये आता है। स्तुति

करते हुए और पैरों में पड़े हुए नन्द को उठा कर भगवान् सुगत उसको दुःख-सागर में निमग्न प्राणियों का उद्धार करने के लिये आदेश देते हैं। तब फिर वह नन्द 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, सङ्घं शरणं गच्छामि' इस प्रकार सुगत की प्रार्थना करने लगता है और सुगत उसको आशीर्वचनों से संयुक्त करते हैं।

चरित्र-चित्रण— नन्द गृह में आसक्त है। भिक्षु बना हुआ भी वह गृह का ही स्मरण करता है। पत्नी में उसका विपुल प्रेम है। परन्तु सुगत का वह पूर्ण सम्मान करता है और अपनी इच्छा भी अपने मुँह से उनके आगे प्रकट नहीं करता है। उसका मन स्थिर नहीं रहता है। स्वर्ग में अपनी पत्नी से भी अत्यधिक सुन्दरियों को देख कर वह पत्नी को भूल जाता है और उन सुन्दर अप्सराओं को पाने के लिये तपस्या करने लग जाता है—क्यों कि वे स्वर्ग की अप्सरायें विना तप के नहीं मिलती हैं। परन्तु आनन्द के मुख से स्वर्गीय सुखों को अस्थिर जान कर परमार्थ मोक्ष प्राप्ति के लिये सुगत से ही प्रार्थना करता है। सुगत से उपदेश पाकर समय आने पर वह अर्हत्व को प्राप्त कर लेता है और उनकी आज्ञा से जगत् का उपकार करने के लिये निकल पड़ता है। सुगत महान् दयालु हैं। गृह में आसक्त बने हुए नन्द का मनुष्य-जन्म जिस प्रकार व्यर्थ न हो उस प्रकार विचार कर वे भिक्षा के बहाने उसके घर स्वयम् उपस्थित होते हैं और युक्ति से उसको भिक्षु बना कर धीरे-धीरे घर से विमुख कर देते हैं। एक दिन उसको अर्हत्व भी प्राप्त करा देते हैं और अर्हत्व प्राप्त किये हुए उसको लोकोपकार करने के लिये नियुक्त कर देते हैं। आनन्द इस कार्य में मध्यस्थ बनता है। वह बीच बीच में नन्द की मानसिक परिस्थिति जान कर भगवान् सुगत को बताता रहता है और स्वयं भी स्त्री-जगत् की असारता एवं स्वर्गीय सुखों की अस्थिरता नन्द को समझाता रहता है। आनन्द और सुगत के ही प्रयास से नन्द जीवन की यथार्थता पहिचान पाता है। नन्द की पत्नी तो निरुपम रूपवती है। वह अपने सौन्दर्य से नन्द को अपने वश में कर लेती है। नन्द सदा उसी में आसक्त रहता है। भिक्षु बना हुआ भी वह उसी का अनुचिन्तन करता रहता है। पत्नी जानती है कि सुगत की संगति में आया हुआ व्यक्ति गृह से विमुख हो जाता है। अतः जब उससे नन्द सुगत का दर्शन करने के लिये जाने की अनुमति माँगता है तो वह काँपने लगती है। परन्तु मना करने की स्थिति में अपना पातिव्रत्य खण्डित हो जाने का विचार करके पति की इच्छा का

अनुसरण करती हुई वह उसको अनुमति दे देती है। परन्तु फिर भी 'जब तक यह विशेषक अर्थात् शरीर पर की गयी चन्दनादि की चित्र-रचना नहीं सूखे, तब तक शीघ्र ही लौट आना' प्रार्थना कर बैठती है। इस प्रकार निवेदन करके उसके मन को अपने में बाँध ही लेती है। नन्द को लौटता हुआ न देख कर स्त्री-स्वभाव वाली वह पति के सम्बन्ध में नाना शङ्का करती है। पति के भिक्षु बन जाने का वृत्त जान-कर तो वह अत्यधिक व्याकुल हो जाती है और विलाप करती है। परन्तु सखियों के समझाने से जैसे तैसे धैर्य धारण करती है।

उद्देश्य— गृहासक्त मनुष्य मनुष्य-जन्म की सार्थकता नहीं जानता है। उसमें बन्धा हुआ ही वह अमूल्य दुर्लभ जीवन को कामोपभोगों से नष्ट कर बैठता है। बुद्धिमान् मनुष्य को गृहासक्ति का त्याग करके परमार्थ मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये। स्वर्गार्थ किया हुआ तप अस्थिर फलदायी होता है। पुण्य-क्षीण होने पर मनुष्य को स्वर्ग से मृत्यु-लोक में ही आना पड़ता है। अतः जनन-मरण-रूपी दुःख से स्वयं को और दूसरे आत्मीय-जनों को छुड़ाने के लिये मनुष्य को सदैव जागरूक रहना चाहिये—यही इस रूपक की शिक्षा अथवा उद्देश्य है।

पात्र-परिचय

नन्द— भगवान् तथागत सुगत का सौतेला भ्राता।

सुगत— कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के 'महात्मा बुद्ध' नाम से सुप्रसिद्ध पुत्र।

आनन्द— सुगत का प्रबुद्ध अन्यतम सहवासी शिष्य।

पत्नी— नन्द की रूपवती चतुर पत्नी।

अन्य पात्रों में कुछ पत्नी की सखियाँ और दासियाँ हैं।

नन्द-दीक्षा

प्रथम-दृश्यम्

(कपिलवस्तुपुर्यां महात्मनः तथागतस्य वैमातृकः भ्राता नन्दः वायु-प्रकाशानुकूलिते सर्वविध-भोग-सामग्री-विभूषिते भव्ये अन्तःपुरे विद्यमानः सांसारिक-चिन्ता-विनिर्मुक्तः सन् प्रियया रममाणः वरीवर्त्ति । बहिः प्राङ्गणे काश्चन स्त्रियः अङ्गलेप-पेषणे स्नानविधि-सम्पादने माला-ग्रन्थने च दत्त-चित्ताः दृश्यन्ते । अस्मिन् अवसरे काषाय-वासाः शान्त-मनाः पात्र-चीवर-हस्तः भिक्षार्थी तथागतः द्वित्रैः सहचरैः सह उपस्थितः भवति । किन्तु कार्य-व्यग्रत्वात् न काचन स्त्री तथागतस्य आगमनं ज्ञातवती । ततः भिक्षाम् अनवाप्य गच्छन्तं तथागतं वीक्ष्य काचन—)

दासी— हन्त ! राजनन्दनः नन्दः अन्तःपुरे प्रियया रममाणः वर्तते । कः आगच्छति ? कः वा न आगच्छति ? न विद्यते किम् अपि तस्य ज्ञानम् । इदानीम् एव तदीयः ज्येष्ठः भ्राता समुपस्थितः । किन्तु रिक्त-हस्तः एव निवर्तते सः । अतिथेः रिक्त-हस्त-गमनं न प्रशस्यते शास्त्रकारैः । यथा उक्तम्— **'अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते ।**
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ।।'

तस्माद् यावद् असौ अधिकं दूरं न गच्छति, तावत् स्वामिनं सूचयामि (अन्तःपुरं प्रविश्य सविनयं प्रणम्य च निज-मुखे चित्र-रचनां कुर्वत्याः पत्न्याः सम्मुखे दर्पणं हस्ते गृहीत्वा स्थितवन्तं नन्दम्) आर्य ! साम्प्रतम् एव अप्रतिहत-गतिः श्रीमान् तथागतः कृतार्थयितुम् अत्र सम्प्राप्तः । किन्तु भिक्षां प्रतिवचनं वा अप्राप्य तूष्णीं महात्मा सः निवर्तते । तद् इदं श्रुत्वा अत्रभवान् प्रमाणम् ।

नन्दः— (दर्पणं भूमौ निधाय साश्चर्यं दासीम् अभिमुखीभूय) अयि किम् उक्तम् ? मम भ्राता समागतः ? क्व वर्तते सः ? दर्शय दर्शय मां झटिति ।

दासी— (साञ्जलिः) स्वामिन् ! न अति दूरं गतः सः । राजमार्गे एव गच्छन् अस्ति ।

नन्दः— बाढम्, गच्छ त्वम् । इदानीं गत्वा दर्शनं करोमि तावत् ।

दासी— यद् आज्ञापयति देवः (प्रणम्य निर्गच्छति)

नन्दः— (प्रियां प्रति) अयि प्रिये ! श्रुतं त्वया सर्वं वृत्तम् ? मदीयः ज्येष्ठः भ्राता समागतः अस्ति । गृह-त्यागानन्तरं न पुनः कदापि तस्य दर्शनं कर्तुम् अपारयम् । सम्प्रति प्राप्तः अयं सुवर्णावसरः । तस्माद् अन्यथा न मन्यसे चेत्, देहि मे अनुमतिम् । गत्वा तस्य पुण्य-दर्शनैः आत्मानं सफलयेयम् ।

पत्नी— (आत्म-गतम्) हा ! महति धर्म-सङ्कटे पतिता अस्मि । श्रूयते, भगवतः सुगतस्य दर्शन-कर्त्ता गृह-त्यागी सञ्जायते । न पुनः तस्मै गार्हस्थ्य-सुखानि अभिरोचन्ते । अतः अस्यां स्थितौ यदि अनुमतिं ददामि तर्हि प्राण-प्रियस्य गृह-त्यागस्य भयम्, यदि न ददामि तर्हि पति-देवस्य इच्छा-भङ्गे सति मदीये पातिव्रत्ये न्यूनताऽऽगमन-दोषः । किं करोमि ? अस्तु, इत्थं करिष्ये (प्रकटम्) प्राणप्रिय ! कथं भवदीय-धर्मे बाधाम् उपस्थाप्य पाप-भागिनी भवेयम्, गच्छतु भवान् गुरु-दर्शनाय । किन्तु त्वरितं ततः प्रतिनिवर्तताम्, यावद् अयं मे विशेषकः न शुष्यति ।

नन्दः— (सहर्षम्) साधु प्रिये ! साधु । त्वत्तः इदम् एव आशासे । यदि न त्वं मे इच्छां विरुणत्सि, कथम् अहं ते आज्ञाम् अतिक्रान्तुं शक्नुयाम् ? (उच्चैः हसति)

पत्नी— (हस्तेन वारयन्ती) न न, अहं तु श्रीचरण-दासी । एवं पुनः न वाच्यम् । गच्छतु भवान् । शिवाः सन्तु पन्थानः ।

नन्दः— बाढम् । चलामि तावद् इदानीम् । विलम्बः जायते (अन्तःपुरात् प्रतिष्ठते)

द्वितीय-दृश्यम्

नन्दः— (आत्म-गतम्) त्वरितं त्वरितं चलितव्यं मया, अन्यथा भगवान् दूरं निर्गमिष्यति । मार्गे एव दर्शनं कृत्वा निवर्तितव्यम् अस्ति गृहम्, यावत् प्राण-प्रियायाः विशेषकः न शुष्यति (शीघ्रं शीघ्रं पादौ उत्थापयति, दूराद् एव शिष्यैः सह अग्रे गच्छन्तं भ्रातरं वीक्ष्य सहर्षम्) अहह ! सौभाग्यं !! सौभाग्यं !!! सः गच्छन् अस्ति महानुभावः । कीदृशः

सौम्य-मूर्त्तिः वर्त्तते ? सर्वतः शिष्यैः परिवृतः विराजते, यथा खलु देवताभिः ब्रह्मा विराजितः भवेत् । चलामि, साष्टाङ्गं प्रणमामि (तथागतं समुपसृत्य साष्टाङ्गं प्रणिपत्य) श्रीगुरु-चरणेषु सादरम् अभिवादये अहम् ।

सुगतः— (वर-मुद्रया हस्तेन) कल्याणम् अस्तु कल्याणम् ।

नन्दः— (उत्थाय साञ्जलिः सविनयम्) पूज्यपाद ! न ज्ञातम् आसीद् मया अत्रभवतः पदार्पणं गृहे । ज्ञात्वा तु उपस्थितः अस्मि सत्वरम् । कृपया क्षन्तव्यः अयं मे अपराधः । पुनः पदार्पणेन गृहम् अनुग्रहीतुम् अर्हति अत्र-भवान् । तत्र एव भवतु किल भिक्षा ।

सुगतः— इदानीं न भ्रातः !

नन्दः— (अञ्जलिं बध्वा) यद् रोचते आचार्याय (पुनः प्रणम्य) इदानीं गृह-गमनाय अनुज्ञातुम् अर्हति मां भवान् ।

सुगतः— (स्वकीयं भिक्षा-पात्रं प्रदाय) एतद् आदाय चलितव्यम् अग्रे ।

नन्दः— (पात्रं गृहीत्वा आत्म-गतम्) हा ! अत्र आगत्य उचितं न कृतं मया । भ्राता न मां त्यक्तुं वाञ्छति । अतः एव तु हस्ते पात्र-दानेन मां बद्धुं कामयते । अन्तःपुरे प्रिया न जाने कीदृशी सोत्कण्ठा प्रतीक्षमाणा भवेत् ? तस्मात् कथं न इदं पात्रम् एव आदाय कथञ्चन अदृश्यः सन् पलायनं कुर्याम् ?

(सर्वे एकं विहारं प्रविशन्ति, तत्र उपवेशनानन्तरम्)

सुगतः— (नन्द-मस्तकोपरि हस्तं धृत्वा करुणया दृष्ट्या पश्यन्) भ्रातः! अवधेहि, यावद् हिंस्रः मृत्युः न आयाति, तावद् बुद्धिं शाश्वत-सुखशान्ति-लाभाय संयोजय, यतः मृत्युः जीवं सर्वासु अवस्थासु निहन्ति । स्वप्न-सदृशेभ्यः मिथ्या-काम-सुखेभ्यः स्वीयं चञ्चलं मनः निवारय, यतः वायु-प्रेरितस्य अग्नेः यथा हव्यैः तृप्तिः न भवति, तथा जीवस्य अपि कामोपभोगैः तृप्तिः न भवति ।

नन्दः— (उपरितन-मनसा) यद् आज्ञापयति भवान् ।

सुगतः— (सहर्षम् आनन्दं भिक्षुम् अभिलक्ष्य) आनन्द ! क्रियताम् अयम् अपि प्रव्रजितः ।

आनन्दः— (नन्दम् उपसृत्य) उत्थीयतां तात ! चल्यताम् ।

नन्दः— (उत्थाय किञ्चिद् दूरं गत्वा नन्दम्) भ्रातः ! प्रव्रजितः तु अहं न भविष्यामि ।

आनन्दः— बाढम् (सुगतम् उपसृत्य) भगवन्! असौ तु वदति— अहं प्रव्रजितः न भविष्यामि।

सुगतः— एवम्! मम समीपम् आनीयतां सः (आनन्देन उपस्थापितं नन्दम्) भ्रातः! किं त्वं न जानासि? शान्ति-कामाः बहवः राजर्षयः वनानि आश्रितवन्तः इति। यदि त्वं दुःख-जालं छेत्तुं वाञ्छसि तर्हि प्रियायाः मोहं त्यज। यथा हि वैद्यः रोगिणे लाभाय औषधं ददाति, तथा एव मया अपि तुभ्यम् इदं हितकरं वचः उक्तम्। यद् अन्नं स्वादु न विद्यते, किन्तु हितकरम् अस्ति, तद् अन्नं साधु उच्यते, तस्माद् अस्वादु अपि हितकरं मे वचः अनुसर। हे भ्रातः! यावद् मृत्युः न आयाति, तावत् श्रेयः-प्राप्त्यै पुरः सर।

नन्दः— (सविनयम् उपरितन-मनसा) यथा आज्ञापयति भवान्, सर्वं करिष्ये।

सुगतः— (सहर्षम्) साधु साधु। (आनन्दं संलक्ष्य) अयि भ्रातः! क्रियताम् अयं प्रव्रजितः। साम्प्रतं सञ्जातः अनुकूलः।

आनन्दः— (साञ्जलिः) यद् आज्ञापयति भवान् (नन्दम्) चल्यताम् भ्रातः! (नन्दः आनन्देन सह गच्छति, आनन्दः तस्य केशान् मुण्डयति, तं काषाय-वस्त्राणि च परिधापयति)

तृतीय-दृश्यम्

(महाराज्ञी नन्द-पत्नी पति-विरह-व्याकुला पर्यङ्कोपरि उपविष्टा वर्त्तते, मध्ये मध्ये सा विलपति, परितः तां द्वित्राः सख्यः तिष्ठन्ति—)

पत्नी— हा आर्यपुत्र! किं प्रतिज्ञां विस्मृतवान् असि? कियान् कालः सञ्जातः? कुत्र व्यवस्यसि? कथं न परावर्त्तसे?

प्रथमा सखी— समाश्वसिहि, समाश्वसिहि।

पत्नी— हा परमेश्वर! किं करोमि? क्व गच्छामि? पतिदेवः तु मां विना क्षणम् अपि पृथक् न तिष्ठति। पुनः कथम् अद्य सः विलम्बते? किं सञ्जातं तस्य मत्तः वैराग्यम्? नहि नहि, क्वचिद् अन्यस्याम् अनुरक्तः स्यात्, तस्माद् एव तु न प्रत्यागच्छति।

द्वितीया सखी— हा हन्त ! किम् एवम् अन्यथा मन्यसे ? न त्वाम् असौ कदाचिद् अतिक्रान्तवान् । समाश्वसिहि, समाश्वसिहि । मार्गे आगच्छन् एव भवेत् ।

तृतीया सखी— (अन्तः प्रविश्य विषण्ण-वदना) सौभाग्यवति ! स्वस्ति ते । आर्यपुत्रः तु महात्मना प्रव्रजितः कृतः ।

पत्नी— (स-शोका) हा हता हता ! मन्दभाग्या !! मुषिता अस्मि, पूर्वं मया यद् आशङ्कितं तद् एव परिणतम् !!! (पर्यङ्कात् भूमौ निपतति विलपति च) प्रिय ! उचितं न कृतवान् त्वम् ।

द्वितीया सखी— प्रिये ! यद् भाव्यम् आसीत्, तद् भूतम् । उत्तिष्ठ, शोकं त्यज । भर्त्तरि धर्मम् आश्रिते सति राजर्षि-वध्वाः तव अयं शोकः शोभनः न । धर्मार्थं तपोवनाश्रयणं तु इक्ष्वाकु-वंशिनां कृते दायाद्य-भूतम् एव । आम्, यदि कयाचिद् रूपवत्या तव भर्त्ता अपहृतः अभविष्यत्, तर्हि तु तव अयं बाष्प-मोक्षः उचितः अभविष्यत् । किन्तु सः तु स्वेच्छया एव स-सुखं धर्मं शरणं गतः इति शुभ-काले अस्मिन् विक्लवा सती मा रुदिहि ।

प्रथमा सखी— शान्तिं लभस्व सखि !, शान्तिं लभस्व । वृथा एव तप्ताश्रुभिः चक्षुषी मा खेदय । त्वयि अनुराग-वशात् विरही सः धर्मे न रंस्यते । समाश्वसिहि, समाश्वसिहि । अनिच्छया धृत-काषाय-वस्त्रः अपि सः अत्र परावर्त्स्यति एव ।

(पत्नी प्रथम-सख्याः सान्त्वनया यथा-कथञ्चित् प्राप्त-धैर्या भवति,
उत्थाय पर्यङ्के च उपविशति)

चतुर्थ-दृश्यम्

(एकान्ते दीक्षितः नन्दः प्रिया-गुण-गणान् स्मरन् गृहं जिगमिषुः विविध-प्रकारेण विलपति—)

नन्दः— (स-शोकः) हन्त ! 'त्वरितं ततः प्रतिनिवर्त्तताम्, यावद् अयं मे विशेषकः न परिशुष्यति' इति अश्रु-प्लुत-लोचनायाः दयितायाः स-दैन्यं वचः अद्य अपि मे मानसं व्यथयति । चक्रवाकः इव प्रिया-वियुक्तः अहं तां विना शान्तिं न लभे । न तथा दारवं, तान्तवम्, आयसं वा सुदृढं

बन्धनं लोके पश्यामि, यथा प्रियायाः चलाक्षं मुखं मधुरां वाणीं च। ये जनाः अश्रु-मुखीं प्रियां परित्यज्य कठिनं तपः चरन्ति, चरितवन्तः, चरिष्यन्ति वा, ते धन्यतमाः किल। स-पुत्रः शाल्वराजः, नृपतिः अम्बरीषः, दाशरथिः रामः, राजा रन्तिदेवः इत्यादयः कतिपये राजानः महाराजाः वल्कल-वस्त्राणि, कुटिलाः जटाः च छित्वा मुकुटं धारितवन्तः। तस्माद् अहम् अपि गुरौ भिक्षार्थं निर्गते सति काषायं वस्त्रं परित्यज्य गृहं प्रस्थास्ये, यतः चञ्चल-चित्तस्य पूज्य-वेष-धारिणः अपि मे न परलोकः सेत्स्यति, न च इहलोकः एव।

(ततः प्रविशति कश्चन)

प्रव्रजितः— (नन्दम्) भ्रातः! अद्य तु त्वम् अन्य-मनस्कः इव दृश्यते। लोचने ते अधीरे स्तः। मुखम् अपि ते विषण्णम्। भवेत् काचित् ते मानसिकी व्यथा। यदि गोप्या न वर्त्तते काचन, तर्हि सत्यम् उच्यतां, येन तद्-अपाकरणोपायः विचार्येत।

नन्दः— सर्वं सत्यं वदामि। क्षम्यतां मे अपराधः। श्रूयतां, दयितां विना न अहं धर्मे आनन्दम् अनुभवामि, न च तां विना शान्तिम् एव। गृहं जिगमिषामि। इदम् एव अस्ति मे मानसिक-व्यथायाः संक्षिप्त-कारणम्।

प्रव्रजितः— (किञ्चिद् विहस्य स-व्यङ्ग्यम्) आः, ज्ञातं खलु। जाल-पतितः पक्षी हितैषिणा केनचिद् मोचितः फल-पुष्प-शालिनि वने विचरन् साम्प्रतं स्वयम् एव पञ्जरं प्रविशति! अवधीयतां सौम्य! धर्मे आनन्दोप-लब्धये श्रवणं, ग्रहणं, धारणं तथा परमार्थ-विज्ञानं, मनसः स्थिरत्वं च आवश्यकम्। तद् एतत् त्वयि न दृश्यते। अतः एतद् धारयितुं, प्रयतस्व। अपि च यत् कथितं— 'प्रियां विना शान्तिं न लभे' इति, तत्र अवगम्यताम्— 'यथा विष-युक्त-लतानां स्पर्शेन, सर्प-युक्त-गुहानां परिमार्जनेन, विवृतानाम् असीनां ग्रहणेन च विपत्ति-मुखे पतति जनः, तथा स्त्रीणां संसर्गेण अपि विपत्ति-मुखे पतति, यतः स्त्रियः हि मधुर-वाण्या जनम् आकृष्टं कुर्वन्ति, निशितेन चित्तेन च तं प्रहरन्ति। एवं तासां स्त्रीणां मुखे मधु तिष्ठति, हृदये च हालाहलं महद् विषम्। यदि च स्व-दयिताम् एतादृशीं स-दोषाम् अननुभूय वदसि 'सा सुन्दरी' इति, तर्हि अहं पृच्छामि। उत्तरं दीयताम्। यदि तव दयिता मल-पङ्क-धरा दिगम्बरा प्रकृतिस्थ-नख-दन्त-रोमा च भवेत्, तर्हि किं सा सुन्दरी द्रक्ष्यते? कदापि नहि। अतः हे भ्रातः! भार्यां

मनसा शरीरेण च सर्वतः दोषवतीं विज्ञाय, तदर्थं गृह-गमनोत्सुकः त्वं चपलं मनः ज्ञान-बलेन वशीकुरु ।

नन्दः— तात ! हितैषिणा त्वया सर्वं साधु एव उक्तम् । किन्तु मम मनः तद् न मनुते, वारं वारं निवारितम् अपि तद् गृह-गमनम् एव कामयते । तत् किं करोमि ?

प्रव्रजितः— तर्हि अन्यम् उपायं चिन्तयामि । गत्वा भगवते गौतमाय निवेदयामि (निर्गच्छति ततः)

पञ्चम-दृश्यम्

प्रव्रजितः— भगवन् ! भ्राता नन्दः गृहं गन्तुम् उत्कण्ठते । यथामति तम् अहं प्राबोधयम् । किन्तु न सः मनः स्थिरं कर्त्तुं पारयति । अग्रे देवः प्रमाणम् ।

सुगतः – एवम्, आनीयतां सः (प्रव्रजितेन उपस्थापितं नन्दं सहानुभूत्या) प्रिय तात ! श्रुतः मया ते हार्दिकः विचारः । न तत्र किञ्चित् कथनीयम् अवशिष्यते । उत्थीयताम् । मानसिक-व्यथा-निराकरणाय स्वर्गं चलाव । सम्भवतः तत्र शान्ति-लाभः स्यात् (स-नन्दः मार्गे हिमालयं प्राप्य नन्दं सङ्केतयन्) भ्रातः ! इमं देव-दारुभिः सुगन्धितं नदी-प्रस्रवणैः सु-शोभितं, देवर्षि-चारण-सिद्धैः संसेवितं, किरात-किन्नर-वनचरीभिः व्याप्तं, वानर-मृग-मयूर-सिंहादि-पशु-पक्षिभिः सन्नादितं पर्वतोत्तमं हिमालयं वीक्ष्य नयन-युगलम् आनन्दय (इतस्ततः परिभ्रमन् एकत्र अक्ष्णा काणीम् उपविष्टाम् एकां वानरीं प्रदर्श्य नन्दम्) हे नन्द ! इतः अपि पश्य । एका इयं वानरी, द्वितीया तव भार्या, वद, अनयोः रूपेण चेष्टया च कां चारुतरां मन्यसे ?

नन्दः— (साक्षेपम्) भगवन् ! क्व सा सुन्दरी दयिता ? क्व च इयं काणी वानरी ?

सुगतः— साधु साधु । चल अग्रे, स्वर्गं चलाव (ऐन्द्रं नन्दन-वनं प्रविश्य काश्चित् अप्सरसः प्रदर्श्य पुनः नन्दम्) भ्रातः ! विविध-फल-पुष्प-वृक्ष-युक्ते, चित्र-विचित्र-पतत्रि-कुल-कूजिते, हरित-हरिते, नयनानन्द-करे अस्मिन् देवाधिपतेः इन्द्रस्य उपवने स्वैरं विचरन्तीः, मधुरं गायन्तीः, स-लीलं

नृत्यन्तीः, सानुरागं पश्यन्तीः एताः स्वर्ग-सुन्दरीः पश्य। कथय, रूप-सौन्दर्ययोः तव दयिता उत्कृष्टतरा ? उत इमाः स्वर्ग-ललनाः ?

नन्दः— हे नाथ ! यथा सा काणी वानरी न दयितातः उत्कृष्टा, तथा सा दयिता अपि न एताभ्यः सुन्दरीभ्यः उत्कृष्टतरा वर्तते। इदानीं तु हे भगवन् ! यथा मृदुना आतपेन तप्तः कश्चन महता अनलेन प्रतपति, तथा पूर्वं मृदु-रागेण सन्तप्तः अहं महता रागेण प्रतपामि। अतः शान्ति-लाभाय भवन्तं शरणं गच्छामि। भवान् एव मे विशिष्टः आश्रयः। तथा कृपा क्रियताम् यथा इह छिन्नः भिन्नः न भवामि, विपदम् उत्तीर्य स-कुशलः गृहं निवर्त्तयेय (पादयोः पतति)

सुगतः— (मस्तके करं निधाय प्रसन्नतया) उत्तिष्ठ तात !, उत्तिष्ठ। (प्रसन्न-मुखः उत्तिष्ठति नन्दः, तम्) धैर्येण विकारम् अपसारय। यदि इमाः अङ्गनाः त्वं वाञ्छसि, तर्हि शुल्कार्थम् उत्तमं तपः कुरु, यतः इमाः बलेन, सेवया, सम्प्रदानेन, रूपेण च न सन्तुष्यन्ति। पुनश्च यदि न विश्वसिषि, तर्हि अहं ते प्रतिभूः भवामि। स्थिरं तपः कृत्वा त्वम् अवश्यम् एव इमाः स्वर्गाप्सरसः प्राप्स्यसि इति।

नन्दः— (प्रसन्न-मुखः साञ्जलिः) एवम् एव करिष्ये।

सुगतः— चल्यताम्, भूलोकं निज-स्थानं परावर्त्तावहे। न इयं तपोभूमिः।

नन्दः— साधु, चल्यताम् (उभौ भूलोकं परावर्त्तेते)

षष्ठ-दृश्यम्

आनन्दः— (नन्दं तपः तपस्यन्तं दृष्ट्वा साश्चर्यम्) भ्रातः ! जनाः कथयन्ति 'अप्सरसां प्राप्तये इदं ते तपः' इति। किम् एतत् सत्यम् ?

नन्दः— (स-लज्जः अधोमुखं कृत्वा) एवम् एव।

आनन्दः— (स-व्यङ्ग्यं प्रहसन्) अहह ! ज्ञातम्। यथा वणिग्-जनाः लाभ-लिप्सया पण्यं क्रेतुं वाञ्छन्ति, तथा एव त्वदीयम् इदं धर्माचरणम् अपि पण्य-भूतम् एव अस्ति। अनेन शान्तिः ते कदापि न भविता।

सौम्य ! त्वं सत्यं जानीहि– 'स्वर्गे न कस्यचन स्थायी निवासः । पुण्य-क्षये जाते मर्त्य-लोकं प्रति आगमनं मनुष्यस्य सुनिश्चितम् । पुनः तथात्वे अशान्तिः अपि तत्कृते नियता वर्त्तते । सन्ति अत्र शिवि-नहुष-ययाति-सदृशाः महामहान्तः राजर्षयः प्रमाणभूताः । तस्मात् स्वर्ग-कामनातः विमुखीभूय अपवर्गे एव मतिं कुरु । न तदानीं गमनागमन-विपत्तिः, शान्तिः च पुनः स्थायिनी ।

नन्दः— (स-व्रीडः) सत्यम्, सत्यम् । एवम् एव करिष्ये । दर्शय मे मार्गम् ।

आनन्दः— मार्ग-प्रदर्शकः तु भगवान् सुगतः एव । सः एव निवेद्यः ।

नन्दः— अस्तु, तम् उपसर्पामि (स-व्रीडः भगवन्तम् उपेत्य साञ्जलिः) भगवन् ! श्रुतं मया– 'स्वर्गे निवासः अस्थिरः, पुण्य-क्षये सति पतनं भवति ततः पुरुषस्य' इति । अतः अहं न वाञ्छामि तादृशं स्वर्गं, न च अप्सरसः । प्रतिभूत्वं भवतः त्यजामि । साम्प्रतं सनातन-शान्तिम् एव प्राप्तुम् इच्छामि । अतः कृपया तादृशम् एव उपायं निर्दिशतु भवान् ।

सुगतः— (प्रसन्नः भूत्वा) अहो ! अद्य ते जन्म सफलं जातं, यत् काम-रस-ज्ञं ते मनः अद्य वैराग्याय उत्सहते । श्रूयतां, प्रथमं धर्म-मूला श्रद्धा त्वया वर्धनीया । ततः शील-रक्षी भव, यतः शीलम् एव योगिनां कृते मोक्ष-प्राप्तेः एक-मात्रं श्रेयस्करं साधनं वर्त्तते । शीली भूत्वा जितेन्द्रियः भव, यतः इन्द्रिय-वशगः जनः दुःखं पुनर्जन्म च प्राप्नोति । अयं ते सारतः मुक्ति-प्राप्तये तत्त्वोपदेशः ।

नन्दः— (साञ्जलिः) कृतज्ञः अस्मि भगवन् ! लक्ष्य-प्राप्तये एकान्तं सेवितुं गच्छामि । कृपया आशीर्वदतु भवान् (मस्तकम् अवनमयति)

सुगतः— (नन्द-शिरसि दक्षिण-हस्तं निधाय) कल्याणम् अस्तु कल्याणम् (नन्दः उत्थाय प्रणम्य निर्गच्छति)

सप्तम-दृश्यम्

(नन्दः निर्जने श्याम-दूर्वाऽऽच्छादिते फल-पुष्प-वृक्षाऽन्विते शान्त-स्थाने वृक्ष-मूले मोक्ष-प्राप्ति-लक्ष्येण बद्ध-पद्मासनः ध्यान-मग्नः दृष्टि-पथम् अवतरति । ततः अर्हत्वम् आसाद्य सहर्षम्—)

नन्दः— (साञ्जलिः) तस्मै सुगताय नमो नमः, येन हितैषिणा कृपालुना मम बहूनि दुःखानि दूरीकृतानि, तथा बहूनि सुखानि च मह्यं दत्तानि । तस्माद् अहं कृत-कृत्यः चलामि गुरु-दर्शनाय (सुगतस्य समीपम् आगत्य साष्टाङ्गं प्रणिपत्य च) अयि जन्म-मुक्त भगवन् ! त्वत्-कृपया जन्म-मुक्तः अभवम्, सद्धर्मं च आचरामि । कृतं कार्यं सर्वं मया । लोके वर्त्तमानः अपि अहं त्वत्-कृपया इदानीं लोक-धर्माद् लिप्तः न अस्मि । वारं वारं नमामि अहम् ।

सुगतः— उत्तिष्ठ वत्स ! उत्तिष्ठ । किमर्थं मे पादयोः मूर्ध्ना पतितः ? त्वदीयं धर्माचरणं यथा रोचते मे, न तथा ते इदम् अभ्यर्चनं प्रणमनं च । अयि जितात्मन् ! अद्य ते प्रव्रजितत्वं सफलम् । त्वया आत्मनि ईश्वरत्वं प्राप्तम् । यः आत्म-जयी, तस्य एव प्रव्रजितत्वं सफलम् ।

नन्दः— (उत्थाय साञ्जलिः) हे विशेष-दर्शि-महात्मन् ! काम-पङ्क-निमग्नं मां कृपया त्वम् उद्धृतवान् । यदि एवं न आचरिष्यः, तर्हि नूनं नष्टः अहम् अभविष्यम् । इदानीम् अहम् ईदृशम् अनिर्वचनीयं शान्ति-सुखं प्राप्य न काम-जं सुखम् अभिलषामि, न च स्वगृहस्थाश्रमं तां सुन्दरीं स्वर्गाङ्गनां वा विचिन्तयामि । अहो ! त्वं परम-कारुणिकः असि । किं मया गुरुदेवस्य तव प्रत्युपकारः कदापि कर्त्तुं शक्यः ? भव-सागरात् समुद्धृतः अहं त्वया ।

सुगतः— इयं कृतज्ञता वत्स ! तव अनुरूपा एव । त्वदीयं चित्तं रजस्-तमोभ्यां विमुक्तम् । रज-आधिक्येन जगति कृतज्ञतायाः भावः दुर्लभः । त्वम् इदानीं प्राप्त-कार्यः असि । परम-गतिः त्वया अधिगता । इदानीं ते किञ्चित् करणीयं न अवशिष्टम् । अतः इतः क्षणात् हे सौम्य ! अन्यान् अपि दुःखिनः अनुकम्पया विमोचयन् यथेच्छं विचरणं कुरु । संसारे सः एव उत्तमः जनः, यः उत्तमं नैष्ठिकं धर्मम् अधिगत्य, स्वीयं परिश्रमम् अविगणय्य, शान्त्युपदेशं परेभ्यः प्रयच्छति । अतः हे स्थिरात्मन् ! स्व-कार्यं

त्यक्त्वा पर-कार्यं कुरु । धर्मम् उपदिशन्तं त्वां विस्मिताः नागरिकाः वदेयुः– 'सः अयम् एव नन्दः, यः पूर्वं कामासक्तः आसीत्, सम्प्रति च मुक्त्युपदेशकः ।' त्वदीयं मनः नाना-विषयेभ्यः मुक्तम् इति श्रुत्वा तव वधूः अपि त्वाम् अनुकुर्वती स्त्रीषु वैराग्य-कथाः करिष्यति । यतः त्वं धैर्यवान् प्राप्त-परम-तत्त्वः जातः इति सा गृहे न रंस्यते । अतः हे तात ! परिपूर्ण-कार्यः त्वम् इतः गच्छ, दुःखाम्बुधौ निमग्नान् प्राणिनः च उद्धर ।

नन्दः— (स-विनयं प्रणिपत्य) बुद्धं, शरणं गच्छामि ,
धम्मं शरणं गच्छामि ,
सङ्घं शरणं गच्छामि ।

सुगतः— (प्रणिपतन्तम् उत्थापयन्) उत्तिष्ठ भ्रातः ! उत्तिष्ठ । किम् इदं करोषि ? कल्याणं भवतु कल्याणम् । सफलाः सन्तु मनोरथाः ।

(शनैः शनैः पटाक्षेपः)

भक्तराज चन्द्रहास

कथा-वस्तु— नौ दृश्यों के इस रूपक के **प्रथम-दृश्य में**— कुन्तलपुर के राजा के मन्त्री धृष्टबुद्धि के निवास-स्थान पर श्रीमद्भागवत-कथा हो रही है। बाहर मार्ग में हरि-कीर्त्तन करती हुई एक बाल-मण्डली निकलती है। उसका नेतृत्व मातृ-पितृ-विहीन केरल-राजकुमार कर रहा है। इसका नाम चन्द्रहास है। यह मण्डली कथा-मण्डप में बुलायी जाती है। इसके किये गये कीर्त्तन से मुग्ध हुए श्रोता बहुत बहुत प्रशंसा करते हैं। कथावाचक चन्द्रहास की हस्तरेखा देख कर उसको कुन्तल देश का भावी राजा और धृष्टबुद्धि की सम्पत्ति का स्वामी होने की बात धृष्टिबुद्धि को बताता है। उससे चिन्ताकुल होकर धृष्टबुद्धि सब श्रोताओं के चले जाने पर प्रसाद ग्रहण करने के बहाने से बाल-मण्डली को रोक लेता है। प्रसाद लेकर बच्चों के चले जाने पर धृष्टबुद्धि चन्द्रहास को रोक कर वज्रमुष्टि आदि वधिकों को बुला कर उसका वध करने के लिये उसको पकड़ा देता है। **द्वितीय-दृश्य में**— वज्रमुष्टि आदि चन्द्रहास के सौन्दर्य और सारल्य पर मुग्ध हो जाते हैं और उसको मारने का विचार छोड देते हैं। किन्तु जब चन्द्रहास शिवशङ्कर की सेवा-अर्चना में ध्यान-मग्न हो जाता है, तब उसके पैर की बढ़ी हुई एक अङ्गुलि काट कर मन्त्री धृष्टबुद्धि के पास चले आते हैं और उधर वेदना से आतुर चन्द्रहास और अधिक तन्मयता से शङ्कर की स्तुति करने लगता है। तब वहाँ वायु-सेवन के लिये उपस्थित हुआ चन्दनपुर का राजा कुलिन्दक करुण स्वर से शिव की स्तुति करते हुए चन्द्रहास को देखता है तो उसका हृदय दया से भर जाता है और उसका परिचय पाकर निःसन्तान होने से उसको सुतवत् मान कर पालन-पोषण एवं संरक्षण करने के लिये अपने साथ ले जाता है। **तृतीय-दृश्य में**— सभा-भवन में विराजमान कुन्तलपुर का राजा कुलिन्दक के द्वारा भेंट की गयी धनराशि स्वीकार करके चन्दनपुर की व्यवस्था को देखने के लिये मन्त्री धृष्टबुद्धि को आगन्तुकों के साथ ही भेज देता है। **चतुर्थ-दृश्य में**—धृष्टबुद्धि चन्द्रहास के सम्बन्ध में परिचय पाकर और उसको जीवित देख कर उसका वध कराना चाहता हुआ

अपने पुत्र को एक पत्र देने के लिये चन्द्रहास को ही कुन्तलपुर भेजता है। इस पत्र में "तत्काल इस को 'विष' दे कर मेरी आज्ञा का पालन करना" यह लिखा गया था। **पञ्चम-दृश्य में**— कुन्तलपुर को रवाना हुआ चन्द्रहास मार्ग में थक कर एक जगह उपवन में गहरी नींद में सो जाता है। वहाँ धृष्टबुद्धि की पुत्री 'विषया' आती है। भाई मदन के नाम से लिखे गये पत्र को उठा कर उसके विषय से पिता का हर्षातिरेक में प्रमाद हुआ जान कर कि 'पिता मुझे इसको देना चाहते हैं, किन्तु जल्दी में वे मेरा पूरा नाम नहीं लिख पाये' ऐसा विचार करके वह 'विष' के स्थान पर 'विषया' सुधार कर चली जाती है। चन्द्रहास जगने के पश्चात् मदन के पास पहुँचता है और उसको वह पत्र सौंप देता है। मदन को पिता का पत्र पढ कर बहुत प्रसन्नता होती है और उसको विषया से विवाह करने हेतु अपने यहाँ ठहरा लेता है। **षष्ठ-दृश्य में**— कुन्तलपुर लौटने पर धृष्टबुद्धि को जब समस्त घटना ज्ञात होती है, तब वह चन्द्रहास को बुला कर चामुण्डा की अर्चना करने के लिये मन्दिर भेज देता है और पीछे से वज्रमुष्टि आदि को बुला कर आदेश देता है कि चामुण्डा के मन्दिर में जो व्यक्ति प्रथम पहुँचे, उसका वे वध कर दें। **सप्तम-दृश्य में**— चामुण्डा के मन्दिर पर जाते हुए चन्द्रहास के पास जाकर मदन उसको कुन्तलपुर के महाराज से मिलने के लिये भेज देता है और स्वयं उसके हाथ से पूजा की थाली लेकर चामुण्डा-मन्दिर पहुँचता है। **अष्टम-दृश्य में**— धृष्टबुद्धि को दूसरे दिन प्रातः जब पता लगता है कि चन्द्रहास कुन्तलपुर का स्वामी बन गया है, तब वह उसकी सत्यता जानने के लिये सबसे पहले चामुण्डा-मन्दिर जाता है और वहाँ मारे हुए अपने पुत्र मदन को देख कर उसके वियोग में दुःखी बना हुआ वहीं एक खम्भे से अपना सिर फोड़ कर मर जाता है। **नवम-दृश्य में** – चन्द्रहास चामुण्डा-मन्दिर लौटता है और वहाँ पिता-पुत्रों को मरा हुआ देख कर अपने आपको ही इसका कारण मानता हुआ अपना सिर काटने के लिये तैयार होता है। परन्तु चामुण्डा प्रकट हो कर उसको वैसा करने से रोकती है और वर माँगने के लिये कहती है। चन्द्रहास उन दोनों को जीवित करने की याचना करता है और प्रार्थना करता है कि वे जीवित होने पर पूर्व वैर भाव को सर्वथा भूल जायें। चामुण्डा उनको जीवित कर देती है और तीनों के ही द्वारा भक्तिपूर्वक चामुण्डा की स्तुति किये जाने के साथ पटाक्षेप हो जाता है।

चरित्र-चित्रण— इस में प्रधानपात्र के रूप में धृष्टबुद्धि और चन्द्रहास सामने आते हैं। धृष्टबुद्धि आस्तिक होता हुआ भी मन से शुद्ध नहीं है। 'चन्द्रहास कुन्तलदेश का अधिपति और उसकी सम्पत्ति का भी अधिकारी बन जायगा'– यह बात कथावाचक के मुख से सुन कर चन्द्रहास का वध कराने की योजना बनाता है। किन्तु ईश्वर जिसकी रक्षा करता है, उसको कोई भी नहीं मार सकता। धृष्टबुद्धि की सब योजनायें विफल हो जाती हैं। प्रथम वह चन्द्रहास को मारने के लिये वधिकों को सौंप देता है, परन्तु उसके पैर की एक अधिक अङ्गुलि के काट देने से ही उसकी प्राण रक्षा हो जाती है। फिर उसको 'विष' देने की योजना में उसकी पुत्री 'विषया' ही दे दी जाती है। तदनन्तर चामुण्डा के आगे उसकी बलि देने के स्थान पर मदन का ही बलिदान हो जाता है। इतना ही नहीं, चन्द्रहास के वध की योजनाओं में अन्त में उसकी भी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार कुकर्मकारी वह कहीं भी सफलता नहीं पाता। **चन्द्रहास** तो उदीयमान भाग्यशाली पात्र है। भाग्य सदा ही उसकी सहायता करता है। सामान्य परिस्थिति से निकल कर वह कुन्तलपुर का राजा और धृष्टबुद्धि का जामाता बन जाता है। दयालु तो वह ऐसा है कि सन्तुष्ट हुई चामुण्डा से पुत्र-सहित धृष्टबुद्धि को जीवित करने की याचना करके उन दोनों को जीवित भी करा देता है। कष्ट में भी वह ईश्वर में श्रद्धा रख कर उसका भजन ही करता है। **वज्रमुष्टि** आदि वधिक उदरपूर्ति के लिये वध-कर्म करते हैं। दयाभाव तो उनमें भी है ही। उनके दयाभाव से ही चन्द्रहास की प्राणरक्षा होती है। **चन्दनपुर का स्वामी कुलिन्दक** महान् कारुणिक है। वह चन्द्रहास को पुत्रवत् पाल-पोष कर युवराज बना देता है। उस ईश्वर भक्त के राज्य में शिक्षा-शालाओं में हरिगुण-गान अनिवार्य है। वह राजभक्त है और कुन्तलपुर के महाराज को कर भी अर्पित करता है। उनके मन्त्री धृष्टिबुद्धि का भी राजवत् ही सम्मान करता है। **विषया** धृष्टबुद्धि की पुत्री है। वह चन्द्रहास के सौन्दर्य पर आकृष्ट हो जाती है। भाई मदन के नाम लिखे हुए पिता के पत्र को उठा कर पढ लेती है और स्त्रीसुलभ बुद्धि से उस पत्र में 'विष' के स्थान पर आँख के काजल से 'विषया' सुधार देती है। यथासमय विषया का विवाह चन्द्रहास से हो जाता है। **मदन** पितृभक्त है। पिता का पत्र पाकर वह अपनी बहिन 'विषया' का चन्द्रहास से विवाह कर देता है और उससे मित्रवत् व्यवहार रखता है। **चामुण्डा** तो सर्वशक्तिमती

महादेवी है ही। वह भक्त चन्द्रहास का मान रख कर उसकी प्रार्थना से मृतक मदन और धृष्टबुद्धि को भी जीवित कर देती है।

उद्देश्य— जिसको ईश्वर बचाना चाहता है वह सदा सर्वथा सुरक्षित ही रहता है। ईश्वर में विश्वास रखने वाला कभी नहीं मरता है। अपितु उत्तरोत्तर वृद्धि-लाभ ही करता है। दुष्ट तो अपने दुश्चरित्र का फल पाता ही है— यही इस रूपक का उद्देश्य है। इस लिये ईश्वर में सदा श्रद्धा-भक्ति रखनी चाहिये।

पात्र-परिचय

धृष्टबुद्धि— कुन्तलराज-मन्त्री।

कुलिन्दक— चन्दनपुराधीश और चन्द्रहास का संरक्षक।

चन्द्रहास— केरल राजपुत्र, आगे कुन्तलपुर का राजा, बीच में चन्दनपुर का युवराज और धृष्टबुद्धि का जामाता।

मदन— धृष्टबुद्धि का पुत्र और विषया का सहोदर।

विषया— धृष्टबुद्धि की पुत्री और चन्द्रहास की पत्नी।

अन्य पात्रों में कथावाचक, श्रोता, महर्षि, हरिकीर्त्तनकर्ता, चन्द्रहास के साथी बालक और वज्रमुष्टि आदि वधिक हैं।

भक्तराज-चन्द्रहासः

प्रथम-दृश्यम्

(कुन्तलपुरराज-मन्त्रिणः धृष्टबुद्धेः प्रासादस्य एकस्मिन् सुन्दरतमे प्रदेशे व्यासासने निषण्णः पौराणिक-शिरोमणिः एकः मुनि-मण्डनः श्रीमद्भागवत-कथां कुर्वन् महाराजः दृष्टिपथम् अवतरति । तद्-अन्तिकं सुवर्णपीठ-स्था वस्त्रालङ्कार-विभूषिता भगवतः श्रीकृष्णस्य मूर्त्तिः विराजते । प्रासाद-भित्तीः विभिन्न-देवता-प्रतिकृतयः विभूषयन्ति । तत्रत्यं वायु-मण्डलं कपूरागरु-चन्दनादिभिः नितान्तं सुगन्धितं वरीवर्त्ति । कथा-वाचकं पण्डितं परितः स्थिताः मन्त्रि-तनय-सहिताः पञ्चषाः ऋषयः महर्षयः कथामृतं पायं पायं भृशं प्रशंसन्तः मुदितान्तरङ्गाः बोभुवति—)

कथा-वाचकः— (सुमधुरया गभीरया वाचा श्रोतृ-वर्गं सम्बोध्य) अयि प्रेयांसः महाशया ! इत्थं मथुरातः समुपस्थितः उद्धवः व्रज-गोपी-वर्गं भगवतः श्रीकृष्णस्य सन्देशं विश्राव्य तासां भगवति प्रेम-निर्विशेषं दर्शं दर्शं परम-प्रीतः ताः नमस्यन् इदम् उवाच—

"एताः परं तनु-भृतो भुवि गोप-वध्वो,
गोविन्द एव निखिलात्म-निरूढभावाः ।
वाञ्छन्ति यद्-भव-भियो मुनयो वयञ्च,
किं ब्रह्म-जन्मभिरनन्त-कथा-रसस्य ।।
क्वेमाः स्त्रियो वनभुवो व्यभिचार-दुष्टाः,
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः ।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षाच्-,
छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ।।
नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्त-रतेः प्रसादः,
स्वर्योषितां नलिन-गन्ध-रुचां कुतोऽन्याः ।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्ड-गृहीत-कण्ठ-,
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रज-वल्लवीनाम् ।।

आसामहो चरण-रेणु-जुषामहं स्यां,
वृन्दावने किमपि गुल्म-लतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा,
भेजुर्मुकुन्द-पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥
या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामै-,
र्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रास-गोष्ठ्याम् ।
कृष्णस्य तद्-भगवतश्चरणारविन्दं,
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥
वन्दे नन्द-व्रज-स्त्रीणां पाद-रेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरि-कथोद्गीतं पुनाति भुवन-त्रयम् ॥

श्रोतारः— (एक-स्वरेण) नन्द-नन्दनः विजयताम् ! गोपीजन-वल्लभः विजयताम् !! भक्तः उद्धवः विजयताम् !!!

(मृत-माता-पितृकः नारद-दीक्षितः केरलराज-पुत्रः चन्द्रहासः नव-दश-वर्ष-मितैः कर-गृहीत-करतालैः पञ्चषैः स्व-वयस्यैः सह हरि-कीर्त्तनं कुर्वाणः धृष्टबुद्धि-प्रासादम् अधः मार्गं मन्दं मन्दम् उपसर्पति—)

चन्द्रहासः— (स-वयस्यः)

नमो नमो भक्तजन-प्रियाय, नमो नमः पाप-विदारणाय ।
नमो नमो दुर्जन-नाशकाय, नमोऽस्तु तस्मै जगदीश्वराय ॥
नमो नमः कारण-वामनाय, नारायणायामित-विक्रमाय ।
श्रीशार्ङ्ग-चक्रासि-गदाधराय, नमोऽस्तु तस्मै पुरुषोत्तमाय ॥

ऋषयः— (साश्चर्यं तदाकृष्ट-चेतसः) अहह ! कीदृशः मधुर-ध्वनिः ? के इमे गायकाः ? (मदनं वीक्ष्य) मदन ! एते अत्र आकार्यन्तां तु तावत् ।

मदनः— (तार-स्वरेण) कः अत्र भोः ? कः अत्र भोः ?

सेवकः— (उपस्थाय) अहम् अस्मि आर्य ! कीदृशी आज्ञा ?

मदनः— इमां गायक-मण्डलीम् इह उपस्थापय तावत् ।

सेवकः— यद् आज्ञापयति देवः (प्रणम्य निर्गच्छति, ततः बहिर् गत्वा गायक-मण्डलीं सम्बोधयन्) भोः भोः भक्तराजाः ! स्थीयताम्, स्थीयताम् । अस्माकं स्वामी भवतः आमन्त्रयते ।

चन्द्रहासः— (स-वयस्यः स्थित्वा) तव स्वामिना अस्माकं किं प्रयोजनम् ? अस्तु, चलामः तावत्, चल (यथा-पूर्वं गायन्तः ते तेन सह कथा-मण्डपं प्रविशन्ति)

सर्वे ऋषयः— आगम्यतां भ्रातरः ! आगम्यताम् । अत्र उपविश्यताम् । मधुरः युष्माकं स्वरः । यथा-पूर्वं गीयतां तु तावत् ।

चन्द्रहासः— (स-वयस्यः करतालं वादयन्)—

नमोऽस्तु ते वामन-रूप-भाजे, नमोऽस्तु ते क्षत्त्र-कुलान्तकाय ।
नमोऽस्तु ते रावण-मर्दकाय, नमोऽस्तु ते नन्द-सुताग्रजाय ॥

(श्रीकृष्ण-मूर्त्तिं भक्त्या प्रणमन्ति)

सर्वे ऋषयः— साधु साधु । प्रशस्या भाव-भक्तिः । धन्यतमः गान-मधुरिमा । अनुकरणीयः ईश्वरानुरागः । यूयं महान्तः भविष्णवः । आयात, आयात । युष्माकं हस्त-रेखां पश्येम (एकैकः ऋषिः एकैकस्य हस्त-रेखां पश्यति)

कथा-वाचकः— (चन्द्रहासस्य हस्त-रेखां विमृश्य सहर्षम् उत्प्लुत्य) आः ! आः !! आः !!! अयम् अस्ति महान् भाग्य-शाली ।

धृष्टबुद्धिः— (सहसा प्रविश्य प्रहसन् कथा-वाचकम्) कीदृशः भाग्य-शाली महाराज ! कीदृशः ? अहम् अपि शृणुयाम् ?

कथा-वाचकः— आगम्यताम्, मन्त्रि-प्रवर ! आगम्यताम् । यथा-समयं समायातः भवान् । अपि जानाति एनं बालम् ?

धृष्टबुद्धिः— न जाने । अत्र कुन्तलपुर-वीथिषु सहस्रशः एतादृशाः अनाथाः बालाः परिभ्रमन्ति । कं कं जानीयां राज-कार्य-व्यग्रः ?

कथा-वाचकः— एवं न वाच्यं मन्त्रि-प्रवर ! किं न पश्यति भवान् ? अयं न वर्त्तते साधारणः बालकः । अस्य हस्त-रेखाम् अनुशील्य वक्तुं शक्नोमि यद् अयम् एव भावी अस्य देशस्य नरेशः, भवतः सम्पदाम् अधिकारी च ।

धृष्टबुद्धिः— (आत्म-गतम्) किं कथितम् ? अयं मे सम्पदाम् अधिकारी ! अज्ञात-कुल-शीलः !! मार्ग-भिक्षुकः !!! नहि कदापि न भविता । ऋषि-वचनं सर्वथा असत्यं भविष्यति । तथा कुर्यां, यथा छिन्ने मूले नैव शाखा न पुष्पम् अवलोक्येत ।

सर्वे ऋषयः— बाढम् । चलामः तावत् । नारायण ! नारायण !! (गच्छतः ऋषीन् द्वार-पर्यन्तं प्रापयितुं धृष्टबुद्धि-मदनादयः अनुगच्छन्ति)

बालाः— वयम् अपि गच्छामः ।

धृष्टबुद्धिः— अरे ! नहि नहि, स्थीयताम् । प्रसादं गृहीत्वा गन्तव्यम् (सर्वे यथा-स्थानं परावृत्य उपविशन्ति)

धृष्टबुद्धिः— मदन ! गच्छ, एभ्यः प्रसादम् आनीय वितर (मदनः निर्गच्छति, प्रसादम् आनीय वितरति च, सर्वे स-स्वादं भक्षयन्ति)

धृष्टबुद्धिः— बालाः ! इदानीं गन्तुम् अर्हथ । सम्पन्नं कार्यम् । (चन्द्रहासम् अभिलक्ष्य) अयं किञ्चिद् विलम्बेन आयास्यति । त्वया अत्र एव स्थातव्यम् ।

बालाः— साधु साधु, (चन्द्रहासम् प्रति) प्रिय वयस्य ! शीघ्रम् एव आयाहि । मा अधिकं विलम्बस्व । वयं चतुष्पथे त्वां प्रतीक्षामहे (निर्गच्छन्ति)

धृष्टबुद्धिः— कः अत्र भोः ? कः अत्र भोः ?

सेवकः— (उपस्थाय साञ्जलिः) आज्ञाप्यतां महाराज !

धृष्टबुद्धिः— (सेवकम् एकान्ते नीत्वा) गच्छ । वज्रमुष्टि, प्रचण्डाक्षं दुर्मुखं च अत्र आनय । (सेवकः निर्गच्छति, क्षणानन्तरे वज्रमुष्टि-प्रभृतीन् उपस्थापयति)

वज्रमुष्टि-प्रभृतयः— (प्रणम्य) जयतु जयतु देवः । आदिश्यतां महाराज ! कः नियोगः ?

धृष्टबुद्धिः— (मुखम् उन्नमय्य) हुं, यूयम् आगताः ? बाढम्, इतः आयात (एकान्ते नीत्वा अक्ष्णा चन्द्रहासं सङ्केतयन्) इमं वनं नीत्वा निभृतं घातयत । प्रभूतं पुरस्कारं प्राप्स्यथ । आम्, प्रत्यभिज्ञानाय किम् अपि अस्य कृत्ताङ्गम् अवश्यम् उपाहरत (स्व-स्थानं परावृत्य चन्द्रहासम्) वत्स ! एभिः सह वने सायं शौचादितः निवृत्तः भव (चन्द्रहासः तैः सह प्रतिष्ठते)

द्वितीय-दृश्यम्

(स्थानम्— कुन्तलपुरोपकण्ठं भयानकं काननम् । तीव्र-मरुता प्रेरितः मर्मरः समस्तं वन-प्रदेशं व्याप्नोति । अन्तरान्तरा शृगाल-सूकरादयः स्व-वाशितेन तत्रत्यं

वातावरणं विघ्नन्ति । समयः— कृष्ण-पक्षीया तामसी रात्रिः । प्रहरी इव नीले नभसि नक्षत्र-कदम्बकं विद्योतते । खद्योताः अपि स्व-कार्यात् न विरमन्ति । एतादृशे काले चन्द्रहासं पुरस्कृत्य उक्त-वनम् उपसर्पन्तः वज्रमुष्टि-प्रभृतयः परस्परम् एवम् आलपन्ति—)

वज्रमुष्टिः— भ्रातः ! अनेन मन्त्रिणः किं विकारितम् ? येन असौ अस्य प्राणान् जिघृक्षति !

प्रचण्डाक्षः— एतद् एव तु अहम् अपि बोद्धुं न पारयामि । कीदृशः सुन्दरः सुभगः सरलः च अयं बालः ? न मह्यं रोचते अस्य वधः । अस्माकम् अपि बालक-बालिकाः सन्ति ।

दुर्मुखः— तात ! व्यवसायः एव अस्माकम् ईदृशः । पर-वशाः किं कुर्मः ? घातयित्वा इमं छिन्नम् अस्य अङ्गं मन्त्रिणे दातव्यम् एव, अन्यथा सः क्रुद्धः सेवातः एव अस्मान् पृथक् कारयिष्यति । ततः गार्हस्थ्यं कथं चलिष्यति ? कः वा बाल-बालिकानां पत्न्याः च पालन-पोषणं करिष्यति ?

वज्रमुष्टिः— एषा विषमा समस्या । महान् धर्म-सङ्कटः । वधे धर्म-ह्रासः, त्राणे च भृतितः पृथक्ता । हा परमेश्वर !

चन्द्रहासः (तदीय-वार्त्ताभिः स्वीयं वधं विभाव्य) अरे भ्रातरः ! इदं निवेदयामि । यूयं मां हनिष्यथ तु अवश्यम् एव । किं मे स्वल्पं समयं दातुं कृपयिष्यथ ? येन मृत्योः पूर्वं सकृत् भगवन्तं तु पूजयेयम् ! ततः कृत-पूजं मां यूयं हन्तुम् अर्हथ ।

वज्रमुष्टि-प्रभृतयः— (मिथः स-विस्मयं वीक्षमाणाः) आम् । का क्षतिः ? भवतु एवम् । जीवतु कञ्चित् कालम् एषः ।

चन्द्रहासः— (स्व-पोट्टलिकातः भगवतः शङ्करस्य मूर्त्तिं निःसार्य सिंहासने संस्थाप्य इतस्ततः अवचित-पुष्पैः कृत-पूजः पद्मासनस्थः निमीलित-नयनः स-भक्तिभावं स्तौति—)

रत्न-सानु-शरासनं रजताद्रि-शृङ्ग-निकेतनं,
शिञ्जिनीकृत-पन्नगेश्वरमच्युतानल-सायकम् ।
क्षिप्र-दग्ध-पुर-त्रयं त्रिदशालयैरभिवन्दितं,
चन्द्रशेखरमाश्रये ननु किं करिष्यति मे यमः ॥

वज्रमुष्टिः— आः ! आः !! आः !!! (चन्द्रहासम् अभिलक्ष्य) अस्य पादे एका अङ्गुलिः अधिका (प्रचण्डाक्षम्) भ्रातः ! साम्प्रतं शोभनः

अवसरः । एषः बालः स्तुतौ मग्नः । अस्य कष्टम् अधिकं न भविता । अस्य अधिकायाः षष्ठ्याः अङ्गुल्याः कर्त्तनम् एव वरम् । अङ्गुलिम् एव प्रत्यभिज्ञानाय दास्यामः मन्त्रिणे ।

प्रचण्डाक्षः— आम्, आम्, अहम् इदम् अनुमोदयामि ।

दुर्मुखः— अहम् अपि इदं समर्थये । (वज्रमुष्टिम्) किं विलम्बसे ? कर्त्तय झटिति अङ्गुलिम् ।

(वज्रमुष्टिः कृपाणेन अङ्गुलिं छिनत्ति, ततः, आदाय त्रयः अपि प्रतिष्ठन्ते । चन्द्रहासः वेदना-स्वरे स्तुतिं यथा-पूर्वं कुर्वन् सन्तिष्ठते—)

चन्द्रहासः— **कुण्डलीकृत-कुण्डलीश्वर-कुण्डलं वृष-वाहनं,**
नारदादि-मुनीश्वर-स्तुत-वैभवं भुवनेश्वरम् ।
अन्धकान्तकमाश्रितामर-पादपं शमनान्तकं,
चन्द्रशेखरमाश्रये ननु किं करिष्यति मे यमः ।।

(चन्दनपुराधीशः कुलिन्दकः प्रातः तुरगम् आरूढः वायु-सेवनाय तद् वनम् आयाति, सहसा तत्र विरम्य स-विस्मयम्—)

कुलिन्दकः— (आत्म-गतम्) अरे ! अस्मिन् निर्जने वने कस्य इदं करुण-क्रन्दनम् ? कः वा मन्द-भाग्यः ? चलित्वा पश्यामि तावत् ।

चन्द्रहासः— **भेषजं भव-रोगिणामखिलापदामपहारिणं,**
दक्ष-यज्ञ-विनाशनं त्रिगुणात्मकं त्रिलोचनम् ।
भुक्ति-मुक्ति-फल-प्रदं निखिलाघ-सङ्घ-निबर्हणं,
चन्द्रशेखरमाश्रये ननु किं करिष्यति मे यमः ।।

कुलिन्दकः— (शब्दानुसारं चन्द्रहासं समुपेत्य आत्म-गतम्) हन्त ! अयं सुकुमारः कुमारः देव-कुमारः इव कमनीयः किल । केनचित् नृशंसेन अस्य अङ्गुलिः छिन्ना । रक्तं प्रवहति । किन्तु न वर्त्तते अस्य भानम् । भगवतः स्तुतौ मग्नः । रूपेण सुन्दरः । वाणी अस्य मधुरा । पक्षिणः पक्षान् प्रसार्य छायाम् अस्मै विदधति । करुणाविष्टाः वानर्यः फलानि अस्मै आनयन्ति । गान-मुग्धाः हरिण्यः निर्भयम् अस्य पादं लिहन्ति । अहम् अस्मि निःसन्तानः । कथं न इमं गृहं नीत्वा राज्ञ्याः अङ्कम् अलङ्कारयेयम् ? दत्तक-पुत्रम् एनं स्वीकरिष्ये । (प्रकटम्) अयि प्रिय शिशो ! क्व ते निवासः ? कौ वा माता-पितरौ ? कः तयोः व्यवसायः ? केन ते इदम् अपकृतम् ?

वद द्रुतम् । तं यम-सदनं दर्शयामि । अहम् अस्मि कुलिन्दक-नामा चन्दनपुराधीशः ।

चन्द्रहासः— (नेत्रे उन्मील्य चकितः इव पश्यति)

कुलिन्दकः— (तथा तम् अवलोक्य) वद वद पुत्र ! केन ते इदम् अपकृतम् ? तं यम-सदनं नयामि । अहम् अस्मि कुलिन्दक-नामा चन्दनपुराधीशः ।

चन्द्रहासः— (स-प्रणामम्) महाराज ! किं प्रयोजनं मे परिचयेन ? श्रोष्यति चेद् उपहसिष्यति एव ननु ।

कुलिन्दकः— नहि नहि, निःसङ्कोचम् उच्यताम् ।

चन्द्रहासः— श्रूयतां तावत् । मृत-माता-पितृकः अहं केरलराज-तनयः चन्द्रहासः परमेश्वराश्रये वसामि (स्व-पादम् अभिलक्ष्य) न केन अपि मे अपकृतम् । 'सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा' ।

कुलिन्दकः— अतीव सन्तुष्यामि अहम् । चल मया सह गृहम् । निःसन्तानः अहं त्वां सन्तान-निर्विशेषं संरक्षिष्यामि ।

चन्द्रहासः— यद् रोचते भवते (शिव-मूर्त्तिं यथा-पूर्वं स्व-पोट्टलिकायां संस्थाप्य कुलिन्दकेन साकं निर्गच्छति)

तृतीय-दृश्यम्

(राजसभा-भवने विराजमानः कुन्तलपुर-पतिः स्वीयैः द्वित्रैः सचिवैः सह आवश्यक-राज्य-कार्य-विषये विचार-विमर्शं प्रकुर्वाणः दृग्गोचरीभवति—)

द्वारपालः— (अन्तः प्रविश्य साञ्जलिः) जयतु जयतु देवः । अथ च चन्दनपुरतः समुपस्थिताः केचन जनाः आत्मनः राज-सेवकान् वदन्ति । अग्रे श्रीमन्तः प्रमाणम् ।

राजा— एवम् ! अत्र उपस्थापय तावत् तान् ।

(द्वारपालः सप्रणामं तान् प्रापय्य निर्गच्छति)

सर्वे आगन्तुकाः— (प्रणम्य) विजयतां विजयतां महाराजः ।

आगन्तुकेषु अन्यतमः— राज्ये परिवारे च कुशलम् अनामयं च पृष्ट्वा महाराजः कुलिन्दकः वार्षिकम् इमं करं समर्प्य विशिष्टं धनम् इदम् उपायनीकरोति (सह आनीतां द्रव्य-पोट्टलिकां प्रददाति)

राजा— (प्रसन्न-मुद्रया) एवम् ! अथ कथ्यताम् । सपरिवारः महाराजः स्वस्थः अस्ति नु ? प्रजावर्गः च सुखी वर्त्तते नु ? किं पुनः तत्रत्या नूतना वार्त्ता ? विशिष्टम् इदं द्रव्यं च किं हेतुकम् ?

अन्यतमः— (साञ्जलिः) महाराज ! युवराजे निहित-राज्य-भारः महाराजः भगवद्-भजने निरतः स-परिवारः स-प्रजः च सानन्दं सुखी सर्वथा । अधीत-वेद-वेदाङ्गः, शिक्षित-शस्त्रास्त्र-विद्यः, नीति-निपुणः, प्रजा-परिवार-प्रियः, सर्व-जन-हितैषी युवराजः विजित्य सपत्न-समुदायम् आनीतवान् विपुलं द्रव्य-राशिम् । ततः एव इदं विशिष्टं धनं भवद्भ्यः । साम्प्रतं युवराजस्य राज-प्रबन्धे सर्वे सुखिनः । सर्वः प्रजावर्गः एकादश्याः व्रतम् आचरति । गृहे गृहे हरि-कीर्त्तनं भवति । सर्वत्र शिक्षण-संस्थासु हरि-गुण-गानम् अनिवार्यं कृतम् ।

राजा— साधु साधु । एकदा अस्माकं प्रधान-मन्त्री तत्रत्य-व्यवस्थां निरीक्षितुम् आयास्यति (धृष्टबुद्धिं वीक्ष्य) उच्यतां मन्त्रि-महाशय ! गमिष्यति नु ?

धृष्टबुद्धिः— आम्, भगवन् ! गमिष्यामि । एतैः सह एव गच्छेयम् ।

राजा— तथास्तु । (सर्वे प्रणम्य निर्गच्छन्ति)

चतुर्थ-दृश्यम्

(राज-सेवकैः साकं धृष्टबुद्धिः चन्दनपुराधीश-सदने समुपतिष्ठते । तत्र तम् एकः सेवकः—)

सेवकः— (साञ्जलिः) मन्त्रि-प्रवर ! भवान् अत्र एव विराजताम् । अहम् अग्रे गत्वा महाराजं सूचयामि ।

धृष्टबुद्धिः— एवम् अस्तु । (धृष्टबुद्धिः प्रतीक्षालये उपविशति । सेवकः निर्गच्छति)

सेवकः— (कुलिन्दक-महाराजम् उपगम्य प्रणम्य च) महाराजः विजयताम् । अस्माभिः सह कुन्तलपुर-प्रधान-मन्त्री महोदयः समागतः । इदानीम् असौ प्रतीक्षालये विद्यते । अग्रे श्रीमन्तः प्रमाणम् ।

कुलिन्दकः— एवम् ! (चन्द्रहासं प्रति) मन्त्री किल राज्ञः प्रतिनिधिः भवति। अतः तदीयः स्वागत-सम्भारः अपि तद्-अनुकूलः एव भवेत्। उत्थीयताम् तं वयं पुरः ग्रहीतुं चलेम। (फल-पुष्पादिकं स्वागत-सामग्रीम् आदाय उभौ प्रतिष्ठेते)

कुलिन्दकः— (प्रतीक्षालयं समुपेत्य) स्वागतम् अस्ति भवतः मन्त्रि-महाशय ! (पुष्प-मालां परिधापयति) जागरितं नः भाग्यम्। भवतः पदार्पणेन पूतं नः गृहम्। अपि कुशली महाराजः स-परिवारः ?

धृष्टिबुद्धिः— अथ किम् ? सर्वे कुशलिनः तत्र ?

कुलिन्दकः— साधु, साधु (चन्द्रहासम्) पुत्र ! गन्तव्यम्। मन्त्रि-महोदयस्य स्थान-भोजनादीनां व्यवस्था कार्या।

चन्द्रहासः— यद् आज्ञापयति देवः (प्रणम्य निर्गच्छति)

धृष्टबुद्धिः— राजन् ! अयं कः कुमारः ? भवान् तु निःसन्तानः आसीत् नु ? कदा पुत्र-रत्नम् इदं प्राप्तवान् ? एतद्-उपलक्ष्ये मुखं मिष्टम् अपि न अकारयत् ? (हसति)

कुलिन्दकः— (उच्छ्वस्य) हा ! कुतः मे मन्द-भाग्यस्य आत्मज-लाभः ? न अयं मे औरसः। एकदा वायु-सेवनाय गतः कुन्तलपुरतः चतुः-क्रोशान्तरिते अरण्ये कृत्ताङ्गुलिकं प्रवहद्-रक्तं करुणं क्रन्दन्तं कुमारम् एनं चन्द्रहासं प्रापम्। सौन्दर्येण सुलक्षणैः च समाकृष्ट-चेताः अहं राज-भवनम् आनीय दत्तक-पुत्रम् इम् स्वीकृतवान्। इदानीम् अस्य एव स्कन्धयोः संस्थापित-राज्यभारः निश्चिन्तः भगवद्-भजनं करोमि।

धृष्टबुद्धिः— (आत्म-गतम्) हन्त ! मया जिघांस्यमानः एव अयं सः खलु चन्द्रहासः। गृहीताङ्गुलयः वधिकाः तम् एनं संरक्ष्य सर्वथा वञ्चितवन्तः माम्। सम्प्रति तु यौवनम् आपन्नः अयं परिचेतुम् अपि न पार्यते। दृश्यतां विधि-विलसितम्। ऋषीणां भविष्य-वाणी सत्या भवितुं प्रतीयते। किन्तु न अहं तथा भावयिष्यामि। इदानीम् अपि समयः वर्त्तते किञ्चित् कर्तुम् (प्रत्यक्षम्) राजन् ! भाग्य-शाली भवान्, यः एवं वार्धक्ये आनन्दं करोति (सहसा) हन्त ! हन्त !! महती त्रुटिः सञ्जाता।

कुलिन्दकः— (स-भयं व्याकुलः) कीदृशी भगवन् ! कीदृशी ? का मे त्रुटिः ?

धृष्टबुद्धिः— न भवतः। अपि तु मे। स्मृति-शक्तिः अपि आयुषा सह क्षीयते। राज्य-सम्बन्धि एकम् आवश्यकं कार्यम् आसीत्। अत्र

आगमन-त्वरायां विस्मृतवान् अहम् । आम्, आत्मजाय 'मदनाय' पत्त्रम् एकं लिखेयं, यदि भवान् चन्द्रहासं प्रहेतुम् अनुमन्येत । पत्त्र-वाहकः न कश्चिद् दृश्यते तथा विश्वस्तः ।

कुलिन्दकः— आम्, आम् । का क्षतिः ? अवश्यं प्रेषयिष्यामि ।

(धृष्टबुद्धिः पत्त्रं विलिख्य पुटके तत् पिदधाति)

चन्द्रहासः— (समेत्य) सञ्जाता सर्व-व्यवस्था । स्नान-ध्यानादितः निवृत्तः भवतु मन्त्री महानुभावः ।

कुलिन्दकः— पुत्र ! मन्त्रि-महाभागस्य पुत्रान्तिकं पत्त्रम् एकं प्रापयितुं कुन्तलपुरं द्रुततर-गामिनं तुरगम् आरुह्य गम्यतां, येन एतदीय-कार्य-हानिः न स्यात् ।

चन्द्रहासः— यद् आज्ञापयति पितृ-पादः (धृष्टबुद्धितः पत्त्रम् आदाय प्रतिष्ठते)

पञ्चम-दृश्यम्

चन्द्रहासः— (कुन्तलपुरोपवनम् उपसृत्य) अहह ! भीषणः प्रतपति चण्डांशुः विहायसि । प्रचण्डतमः प्रवहति पवनः सर्वतः । आतप-क्लान्ताः पतत्त्रिणः छायावतः विटपान् समुपाश्रयन्ते । व्यालाः निर्भयं शिखावल-क्रोडे शेरते । शीत-प्रियाः महिषाः पल्लव-पयः आविलं कुर्वते ! न पुरः वर्धितुम् उत्सहते चेतः । भृशं श्रान्तः अस्मि । अतः इमम् उपवनं प्रविश्य पिपासाम् अपनीय विश्रामं किञ्चित् करोमि तावत् । तृतीय-प्रहरे प्रापयिष्यामि पत्त्रम् एतत् (उपवनान्तः प्रविश्य, वृक्ष-मूले तुरगं निबध्य, वृक्षान्तर-च्छायायां धृत-हस्तोपधानः विश्राम्यति, मुहूर्त्तानन्तरं च निद्राति गभीरम्)

विषया— (धृष्टबुद्धि-तनया वायु-सेवनाय ४-५ वादने उपवनं प्रविष्टा स-विस्मयम्) अरे ! तस्मिन् वृक्षमूले कस्य अश्वः निबद्धः ? कः स्वैरम् अत्र प्रविष्टः ? मन्ये, तुरगाधिपतिः अपि इह एव क्वचित् भवेत् । पश्यामि तावत् तम् । (अग्रे उपसर्पति) अये ! अयम् अस्ति सः । अद्वितीय-सौन्दर्य-राशिः साक्षात् कामदेवः एव । देव-कुमारं सु-कुमारं कुमारम् इमं पश्यन्त्याः मे नयने न तृप्यतः । प्रतीयते परदेशी । मार्ग-श्रम-श्रान्तः कथं स्वपिति निश्चिन्तः ? सहसा चन्द्रहास-सन्निहितं पत्त्रं विलोक्य । हुं, किम् इदम्

अस्य समीपं पत्त्रम् ? विलोकयामि तावत् (निःशब्दम् उत्थापयति) अरे ! अयं हस्त-लेखः तु मम जनकस्य एव भ्रातरं मदनं प्रति प्रहितं तेन। अये पत्त्र-वाहकः अस्मत्-परिवार-सम्बन्धितः एव प्रतिभाति, अनावृतं कृत्वा पश्यामि। किम् अत्र लिखितम् ? (पत्त्रम् उद्घाटय वाचयति—)

प्रियपुत्र मदन !

शतं जीव्याः। एषः पत्त्र-वाहकः चन्द्रहासः त्वत्-समीपम् आयाति। अस्य वंश-विद्या-सौजन्य-वय-आदीनां कम् अपि विचारं न कृत्वा त्वरितम् अस्मै विषं प्रदाय ममाज्ञां पालय। कार्य-गौरवाद् इदानीम् अहम् आगन्तुम् अशक्तः इति—

ते पिता
धृष्टबुद्धिः

(वाचयित्वा विषण्ण-वदना) अरे ! ईदृशाय कन्दर्प-दर्प-विदारकाय कमनीय-कान्तये कुमाराय जनकः विष-दानम् आदिशति ? किं सञ्जातं मतिमतः मम पितुः ? नहि नहि, माम् एव दित्सति पिता अस्मै। हर्षोद्रेके मम नाम पूर्णं लेखितुं न पारितं तेन। 'विषयाम्' इति स्थाने शीघ्रतायां 'विषम्' इति लिखितं तेन। तद् अहम् इदं सुधारयामि। परं हा ! कथं सुधारयेयम् ? मसी अपि तु इह न विद्यते (चिन्तिता भवति, ततः क्षणानन्तरम् एव) हन्त ! दृष्टः उपायः। एवं करिष्ये (प्रेमाश्रु-क्लिन्नं नयन-लग्नं कज्जलं दक्षिण-हस्तस्य तर्जन्याः नखाग्रेण निःसार्य) 'विषम्' इति स्थाने 'विषयाम्' इति सुधारयति। सम्पन्नम् इदं कार्यम्। धूमाकुल-दृष्टेः यजमानस्य आहुतिः यथा-स्थानम् एव प्रापिता। भवतु, चलामि तावत् यथापूर्वम् अस्य समीपं पत्त्रं निधाय। महान् विलम्बो भवेत्। माता प्रतीक्षमाणा स्यात् (यथावत् पत्त्रं समीकृत्य, पुटके पिधाय संस्थाप्य च ततः निःशब्दं निर्गच्छति)

चन्द्रहासः— (विषयायां निर्गतायां निद्रातः उत्थितः पश्चात्तपन्) हा हन्त ! सञ्जातः मे अधिकः समयः शयानस्य। सायं समयः संवृत्तः। साम्प्रतं वातावरणम् अपि शीतलं सम्पन्नम्। तद् अहं चलामि (पत्त्रं प्रति वीक्ष्य) एतत् तु सुरक्षितं वर्तते एव (प्रतिष्ठते, तुरगारूढः धृष्टबुद्धि-सदनं समुपेत्य द्वारपालम्) अयि महाशय ! सूच्यतां सचिव-सूनुः मदन-महोदयः यत् चन्दनपुरतः पत्त्र-वाहकः भवत्-पितुः पत्त्रम् आदाय समुपस्थितः इति। (द्वारपालः अन्तः प्रविशति, मदनं प्रणम्य चन्द्रहास-कथितं यथावत् कथयति)

मदनः— (बहिर् आगत्य) आगम्यतां महाशय ! आगम्यताम्। कः पितुः आदेशः ? क्व तत् पत्त्रम् ? कथं भवान् अत्र एव स्थितः ?

चल्यताम् अन्तः (गृहाभ्यन्तर् नयति, आसने तम् उपवेशयति, स्वयं च आसनान्तरे उपविशति)

चन्द्रहासः— (प्रह्वीभवन् उत्थाय) गृह्यतां पत्रम् एतत् (पत्रं मदन-करे अर्पयति)

मदनः— (पत्रम् अनावृतं विधाय वाचयति आत्मगतम्—)
प्रियपुत्र मदन !

शतं जीव्याः । एषः पत्र-वाहकः चन्द्रहासः त्वत्-समीपम् आयाति । अस्य वंश-विद्या-सौजन्य-वय-आदीनां कम् अपि विचारं न कृत्वा त्वरितम् अस्मै विषयां प्रदाय ममाज्ञां पालय । कार्य-गौरवाद् इदानीम् अहम् आगन्तुम् अशक्तः इति—

ते पिता
धृष्टबुद्धिः

(प्रत्यक्षम्) साधु साधु । (चन्द्रहासम्) विषया विद्यते मे सहोदरी । अधुनावधि सा अविवाहिता तिष्ठति । ताम् एव भवते दातुं पितृ-पादाः आदिशन्ति । महती प्रसन्नता । भवता सम्बन्धः भवतु भूयान् शुभ-करः । शुभ-मुहूर्त्ते ताम् अहं भवते प्रदास्यामि । तस्मात् भवान् इह एव त्यक्त-सङ्कोचः ससुखं निवसतु ।

चन्द्रहासः— (स-सङ्कोचम्) यद् रोचते भवते, तद् विधीयताम् । भगवद्-इच्छा बलीयसी ।

षष्ठ-दृश्यम्

धृष्टबुद्धिः— (कुन्तलपुरं परावृत्तः चन्द्रहासेन सह विषयायाः विवाह-वृत्तान्तं श्रुत्वा निर्विण्ण-मनाः निज-सदने) हन्त ! अपरः शरः अपि लक्ष्य-च्युतः अभूत् । ऋषि-वाणी सत्यताम् आपद्यते । लिखितवान् आसं विष-दानाय । किन्तु दत्ता अस्मै शत्रवे विषया । इदानीम् अयं तु मे जामाता एव जातः । परन्तु किम् अपि भवतु । भवतु नाम मे तनया विधवा । एनं तु यम-सदनं प्रापय्य एव शान्ति-श्वासं ग्रहीष्ये (उच्चैः) अरे ! अस्ति कश्चन द्वारि ?

सेवकः— (समुपस्थाय साञ्जलिः) अहम् अस्मि आर्य ! का आज्ञा ?

धृष्टबुद्धिः— गच्छ, अस्माकं जामातृ-महोदयम् अत्र उपस्थापय ।

(सेवकः प्रणम्य निर्गच्छति, चन्द्रहासं समुपेत्य)

सेवकः— (साञ्जलिः) अयि महाशय ! चन्दनपुरतः परावृत्तः भवतः श्वसुर-महानुभावः साम्प्रतं भवन्तं दिदृक्षते । तर्हि चल्यताम् ।

चन्द्रहासः— एवम् । चलामि तावत् (उत्थाय वस्त्राणि परिधाय धृष्टबुद्धि-समीपं समुपतिष्ठते)

चन्द्रहासः— वन्दे पितः ! सादरम् (चरणौ स्पृशति)

धृष्टबुद्धिः— (निवारयन्) न न, एवं किं क्रियते ? अलम् अलम् अधिक-सम्भ्रमेण । उपविश्यताम् उपविश्यताम् (स्व-समीपम् उपवेश्य) भगवद्-दयया सकुशलं सम्पन्नः वैवाहिक-विधिः । भवादृशं गुणवन्तं जामातरं प्राप्य परं सुखं प्राप्नोमि । अस्मत्-परिवारे चिरन्तनी इयं प्रथा यत् जामाता एकाकी गत्वा रात्रौ कुल-देवतां चामुण्डाम् अर्चति इति । तद् भवान् तथा आचरतु ।

चन्द्रहासः— (प्रणम्य) यद् आज्ञापयति आर्यः । (प्रणम्य निर्गच्छति)

धृष्टबुद्धिः— कः अत्र भोः ? कः अत्र भोः ?

सेवकः— (उपस्थाय साञ्जलिः) अहम् अस्मि स्वामिन् ! कः आदेशः ?

धृष्टबुद्धिः— वज्रमुष्टिं मे पुरः उपस्थापय । (सेवकः प्रणम्य निर्गच्छति, वज्रमुष्टिः उपस्थितः भवति)

वज्रमुष्टिः— (प्रणम्य) कः नियोगः भगवन् !

धृष्टबुद्धिः— गम्यताम् इदानीं चामुण्डा-मन्दिरे । तत्र यः प्रथमम् उपस्थितः स्यात्, निर्विचारं सः चामुण्डायै बलिः विधेयः ।

वधिकः— यद् आज्ञापयति देवः (प्रणम्य निर्गच्छति)

सप्तम-दृश्यम्

मदनः— सखे चन्द्रहास ! क्व साम्प्रतम् एकाकी प्रयासि ? किं निमित्तम् इयं पूजा-सामग्री ?

चन्द्रहासः— भ्रातः मदन ! पित्रा समादिष्टः अस्मि चामुण्डाम् अर्चितुम् इति मन्दिरं गच्छामि ।

मदनः— मित्र ! कुन्तलपुराधीशः त्वां साम्प्रतं दिदृक्षते । त्वाम् आकारयितुम् एव प्रेषितः अस्मि । भाग्यात् त्वम् अत्र एव मिलितः । तस्माद् गच्छ तद् अन्तिकं त्वम् । देहि मे पूजा-स्थालीम् । त्वत्-प्रातिनिध्येन अहं पूजयामि (स्थालीं चन्द्रहास-हस्तात् आदातुं प्रवर्तते)

चन्द्रहासः— नहि नहि भ्रातः ! अहम् एव आज्ञप्तः अस्मि । अहम् एव आज्ञप्तः अस्मि । न त्वम् ।

मदनः— बाढं, भवतु एवम् । कुरु त्वम् एव पूजाम् । किन्तु सामग्रीं तु मह्यं देहि । अहम् अग्रे नयामि । महाराजेन मिलित्वा आयाहि शीघ्रम् । अहं त्वां तत्र प्रतीक्षे ।

चन्द्रहासः— यद् रोचते भवते । गृह्यताम् (पूजा-स्थालीं मदन-हस्त-गतां करोति, ततः उभौ अपि विपरीतायां दिशि प्रतिष्ठेते)

अष्टम-दृश्यम्

धृष्टिबुद्धिः— (प्रातः उत्थितः) अहो ! किम् इदं शृणोमि ? जनाः वदन्ति– चपलः चन्द्रहासः राजकुमारीं परिणीय कुन्तलपुराधीशः संवृत्तः । किन्तु एतत् सर्वथा असत्यम् । रात्रौ तु तं चामुण्डाम् अर्चितुं प्रहितवान् एव । तत्र एव यथापूर्व-सङ्केतं बलित्वेन अपि वृतः । तत् कथम् इदं सम्भवति ? अथवा जन-प्रवादः सर्वथा असत्यः अपि न भवति । मन्दिरं गत्वा एव कथं न सन्देहं दूरे कुर्याम् ? तर्हि चलामि तावत् (मन्दिरम् उपेत्य, कृत्त-मस्तकं मदनं वीक्ष्य च शोकाकुलः) हा पुत्र ! त्वं चन्द्रहास-स्थाने ईदृशीं दुर्गतिं लब्धवान् ! केन इदं ते दुराचरितम् ? महान् धूर्तः चन्द्रहासः । पुत्र ! सन्तप्तं मां पश्य तु तावत् । त्वत्-कृते एव सर्वम् इदं कुर्वाणः

आसम् । इदानीं त्वम् एव न स्थितः, तर्हि मम प्राण-धारणेन किम् ? अहम् अपि त्वाम् अनुसरामि । चन्द्रहास ! साम्प्रतं भुङ्क्ष्व निर्विघ्नं राज्यम् । न वर्त्तते ते कश्चन मार्ग-कण्टकः । अहं तु प्रयामि (मन्दिर-स्तम्भेन स्व-शिरः संस्फोटय मृत्युम् आपद्यते)

नवम-दृश्यम्

चन्द्रहासः— हन्त ! मां प्रतीक्षमाणस्य मदनस्य सर्वा रात्रिः एव व्यतीता । प्रातः सञ्जातम् । वराकः स तत्र उपविष्टः भवेत् । तर्हि अहं चलामि, क्षमां च याचे (प्रतिष्ठते, चामुण्डा-मन्दिरम् उपेत्य पिता-पुत्रौ मृतौ विलोक्य) हन्त ! हन्त !! किम् इदं हृदय-द्रावकं दृश्यं पश्यामि ? अहम् एव अनयोः खलु मृत्यु-हेतुः । यदि अहं समये चामुण्डाम् आर्चिष्यं, न इयं चण्डिका ईदृशीं संहार-लीलाम् अदर्शयिष्यत् । अहो ! धिक् मां कृतघ्नम् । उपकर्तारौ अपि एतौ न मया प्रत्युपकृतौ । किं मे जीवितेन साम्प्रतं जगति ? अहम् अपि एतौ अनुसरामि (कृपाणं कोषतः निःसार्य स्व-शिरः छेत्तुम् उत्तोल्य चण्डिकां प्रति) अयि प्रचण्डे चण्डिके ! न शान्ता त्वदीया तृषा । निरपराधौ इमौ निर्दयं संहृतवती । माम् अपि संहर (आत्मानं प्रहर्त्तुम् उद्यतः भवति)

चामुण्डा— (प्रकटीभूय चन्द्रहासस्य हस्तं निगृह्य च) मा एवं वत्स ! मा एवम् । सारल्येन सौजन्येन च ते भृशं प्रसीदामि । अयं दुष्टः धृष्टबुद्धिः तु सदैव त्वां जिघांसुः आसीत्, तत्फलं लब्धवान् । अयं मदनः च ईश्वर-भक्तः परोपकार-रतः च अवर्त्तत, अतः त्वत्-कृते स्वदेहं प्रदाय कृत-कृत्यः परां गतिं प्राप्तः । त्वदीयेन सारल्येन सौजन्येन च भृशं प्रसीदामि । वरं ब्रूहि ।

चन्द्रहासः— (प्रणम्य) मातः ! यदि प्रसन्ना असि, तर्हि मत्-कृते शरीर-त्यागिनौ इमौ त्वत्-कृपया विस्मृत-वैरौ विमल-मतिम् आपन्नौ जीवितं लभेयाताम् ।

चामुण्डा— (वरदां मुद्रां प्रदर्श्य) तथास्तु ।

(पिता-पुत्रौ उत्तिष्ठतः । पुष्प-वृष्टया सह आकाश-वाणी भवति—)

दयावती देवी विजयताम् ! भक्तः चन्द्रहासः विजयताम् !!

चन्द्रहास-सहितौ पितापुत्रौ—(स-भक्ति-भावं करौ निबध्य गायतः)

जय जय मातर् ! जय जय मातर् ! जय तारिणि ! जय दुर्गे !
दुर्गे मातर् ! जय दुर्गे ! जय-कारिणि ! जय दुर्गे !
ब्रह्मानन्द-रते ! जय मातर् ! जगदवलम्बे ! दुर्गे !
लोकातीते ! मुनि-जन-गीते ! शिव-शालिनि ! जय दुर्गे !
दुर्गे मातर् ! जय दुर्गे ! रिपु-हारिणि ! जय दुर्गे !
जय जय दुर्गे ! जय जय दुर्गे ! भव-तारिणि ! जय दुर्गे !
योग-निमग्ने ! जय जय मातः ! कैटभ-नाशिनि ! जय दुर्गे !
सर्वातीते ! सुर-बुध-गीते ! सुख-शालिनि ! जय दुर्गे !

(शनैः शनैः पटाक्षेपः)

अशोक की पराजय

कथा-वस्तु— छः दृश्यों में विभक्त इस रूपक के **प्रथम-दृश्य में**— सम्राट् अशोक शास्त्रोक्त पद्धति से अपराधियों को दण्ड देने के लिये एक नरक का निर्माण करता है। नरक में तपन, रौरव, सङ्घात आदि चौरासी कुण्ड हैं, लौहदंष्ट्रा के मुखवाले तीव्र विषधारी बिच्छू, गरम गरम तपने वाले लौह-पुरुष और लौह-स्त्रियाँ भी हैं। मन्त्री के साथ पहले अशोक स्वर्ग-नरक की चर्चा विस्तार से करता हुआ दृष्टि-गोचर होता है। **द्वितीय-दृश्य में**— रात्रि के आठ बजे के समय एक नीम के पेड के नीचे चौपाल पर इकट्ठे हुए कुछ पाटलिपुत्र-वासी लोग उक्त नरक के सम्बन्ध में बातें कर रहे हैं। श्यामदत्त इस नरक के निर्माण का उद्देश्य साधु-जनों की रक्षा करना और दुष्ट-जनों को दण्डित करना बताता है। किन्तु जनार्दन अपराधियों की तरह निरपराधों और संदिग्ध अपराध वालों की भी भविष्य में नरक-गामिता की आशङ्का करता है। गोपाल सम्राट् के इस सम्बन्ध में हुए प्रथम-दोषों का उदाहरण दे कर जनार्दन के कथन का समर्थन करता है। परन्तु तारामणि सबको निश्चिन्त हो कर रहने का परामर्श देता है। **तृतीय-दृश्य में**— नरक में दण्डनीयों को दण्डित करने के लिये नियुक्त किया गया चण्डगिरिक नरक-भवन के बाहर के एक रमणीय भाग को देखते हुए बौद्ध भिक्षु को पकड कर यमदूत के सुपुर्द कर देता है। यमदूत उसको एक खूब तपे हुए तैल के कढाह में गिरा देता है। पर भिक्षु का कोई अनिष्ट नहीं होता। फिर अग्नि में धकेला हुआ भी वह पूर्व स्थिति में ही रहता है। यह देख कर यमदूत आ कर चण्डगिरिक को यथार्थ स्थिति से अवगत कराता है। इससे विस्मित हुआ चण्डगिरिक भी महाराज अशोक को यह बात बताने के लिये चला जाता है। **चतुर्थ-दृश्य में**— चण्डगिरिक के कहने पर सम्राट् अशोक स्वयं नरक में उपस्थित हो कर और भिक्षु के पास जा कर पूछते हैं कि इस नरकाग्नि को तुमने ठंडा कैसे बना दिया? भिक्षु उसमें अपनी असमर्थता बता कर कहता है कि यह काम तो भगवान् बुद्ध का ही है। सम्राट् से वह प्रार्थना करता है कि वे जीवों पर दया, मित्रता और अहिंसा का व्यवहार करें।

अशोक उसके वचनों से आकृष्ट हो कर वैसा ही व्यवहार करने का निश्चय करता है। वह भिक्षुक की आध्यात्मिक शक्ति के सामने अपनी पराजय स्वीकार करता है। चण्डगिरिक और उसके सहयोगियों को पाटलिपुत्र से निकल जाने के लिये आदेश दे कर भिक्षुक से अब तक किये गये अपने निन्दनीय दुष्कर्मों का निदान पूछता है। 'आपने जीवों को अपने समान नहीं समझा— यही आपके दुष्कृत्यों का मूल है' ऐसा भिक्षुक बताता है और वह नरक के स्थान पर स्वर्ग का निर्माण करने का सम्राट् को उपदेश भी देता है। भिक्षु के चले जाने पर स्वयम् अशोक प्रतप्त तैल के कढाह में अङ्गुलि दे कर और अग्नि कुण्ड में पैर रख कर पर-वेदना का अनुभव करता हुआ प्रायश्चित्त करने का उपाय सोचता है। **पञ्चम-दृश्य में**— प्रातःकाल "अप्पमादो अमत-पदं, पमादो मच्चुनो पदम्। अपमत्ता न मीयन्ति, ये पमत्ता यथा मता॥" इस प्रकार मधुर गान करते हुए एक भिक्षु-बालक को बुला कर उससे अमृत मृत्यु का मार्ग पूछता है। किन्तु बालक उसमें अपनी असमर्थता बताता है और कहता है कि मथुरावासी वृद्ध उपगुप्त आपको सन्तुष्ट करेंगे। इसके पश्चात् वहाँ से भिक्षा लेकर वह चला जाता है। **षष्ठ-दृश्य में**— अशोक वृद्ध उपगुप्त को बुलवा कर उससे अमृत प्राप्ति का उपाय और प्रायश्चित्त का प्रकार पूछता है। जीवों पर दया और मैत्री का व्यवहार एवम् अहिंसा के उपदेश का प्रसार करने के लिये अशोक को परामर्श दे कर उपगुप्त 'धम्मं शरणं गच्छामि, सङ्घं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि' इस मन्त्र का एकाग्र मन से उच्चारण करना प्रायश्चित्त का उपाय बताता है। अशोक के उसी प्रकार दो तीन बार उच्चारण करने के साथ साथ इस रूपक का पटाक्षेप हो जाता है।

चरित्र-चित्रण— इसमें मुख्य पात्र **सम्राट् अशोक** है। उसे प्रारम्भ में पर-पीडा पहुँचाने में आनन्द आता है। इसके लिये वह नरक का निर्माण करता है। उसमें प्राणियों को यातना दे कर वह प्रसन्न होता है। चण्डगिरिक और उसके साथी इसमें सहायक होते हैं। मन्त्री भी अशोक की आज्ञा का पालन करता है। परन्तु आगे बौद्ध भिक्षुक की आध्यात्मिक शक्ति से अशोक अपने आपको पराजित

मानता हुआ अपने दुष्कृत्यों पर पश्चात्ताप करने लगता है। अशोक भिक्षु-बालक की सहायता से वृद्ध उपगुप्त को मथुरा से बुलवा कर उससे जीवों पर दया, मित्रता और अहिंसा का उपदेश पाकर उसके निर्देशानुसार "धम्मं शरणं गच्छामि, सङ्घं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि" उच्चारण करता हुआ परम शान्ति लाभ करता है। बौद्धभिक्षु की सहिष्णुता के प्रभाव से और वृद्ध उपगुप्त की शिक्षा से क्रूर हृदय वाले भी अशोक का मन परिवर्त्तित हो जाता है। इसमें दोनों ही व्यक्तियों के चरित्र के उत्कर्ष का कारण मानना चाहिये। मन्त्री तो यथार्थ-वक्ता है, किन्तु है सम्राट् का आज्ञाकारी सेवक। अशोक के निर्देशानुसार वह शास्त्रोक्त नरक का निर्माण करवा देता है। नागरिक जनार्दन अवश्य दूरदर्शी है। उसके द्वारा नरक के सम्बन्ध में की गयी टिप्पणी अक्षरशः चरितार्थ होती है। निरपराध भी भिक्षुक अपराधी की तरह ही नरक में डाल दिया जाता है। गोपाल जनार्दन का जो समर्थन करता है उससे उसका पूर्वानुभव प्रतीत होता है। बौद्ध भिक्षु सहिष्णुता की मूर्त्ति है। प्रतप्त तैल में भी वह अविकृत रहता है। उसके आगे अग्नि भी अपनी उष्णता त्याग देती है। वह सब का कल्याणकाङ्क्षी है। अशोक को वह भगवान् बुद्ध के सन्देश से परिचित कराता है। इसके प्रभाव से ही अशोक का मन परिवर्त्तित होता है। भिक्षु बालक भी बौद्ध पन्थी है। उसी के सहारे से मथुरावासी उपगुप्त का परिचय अशोक को होता है। उपगुप्त ही सम्राट् अशोक को "धम्मं शरणं गच्छामि, सङ्घं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि" बुलवा कर प्रायश्चित्त करवाता है। चण्डगिरिक आदि क्रूरस्वभावी सेवक हैं। वे यथानिर्दिष्ट कार्य करते हैं।

उद्देश्य— मनुष्य आनन्द के लिये दूसरों को पीडा देता है, पर उससे वास्तविक आनन्द नहीं मिलता है। वह आनन्द तो जीवों पर दया, मैत्री और अहिंसा का व्यवहार करने से ही प्राप्त होता है। जैसे पीडा स्वयं को होती है, वैसे दूसरों को भी होती है। ऐसा जान लेने पर मनुष्य में दया, मैत्री, अहिंसा आदि सद्गुण स्वयं ही उत्पन्न हो जाते हैं और उस प्रकार का आचरण करने से स्वर्ग भूलोक पर ही अवतीर्ण हो जाता है। इस प्रकार आध्यात्मिक शक्ति के आगे भौतिक शक्ति पराजित हो जाती है। अतः इस अद्भुत शक्ति के उपार्जन के लिये सदा ही प्रयत्नशील रहना चाहिये— यही इस रूपक की पृष्ठभूमि में मूल उद्देश्य है।

पात्र-परिचय

अशोक— चक्रवर्ती सम्राट् अशोक जो प्रारम्भ में क्रूरस्वभावी है, किन्तु पश्चात् बौद्धमतावलम्बी और परम कारुणिक बन जाता है।

अमात्य— अशोक का आज्ञाकारी और नरक का निर्माता मन्त्री।

भिक्षु— अशोक के हृदय को परिवर्त्तित कर देने वाला बौद्ध भिक्षु।

भिक्षु बालक—सम्राट् अशोक को वृद्ध उपगुप्त का परिचय देने वाला बौद्ध बालक।

वृद्ध उपगुप्त—सम्राट् अशोक को प्रायश्चित्त कराने वाला मथुरावासी बौद्ध भिक्षु।

चण्डगिरिक— नरक की व्यवस्था करने के लिये नियुक्त किया गया अधिकारी।

श्यामदत्त, महेश, गजानन, गोपाल, जनार्दन, तारामणि आदि पाटलिपुत्र के अन्य नागरिकजन पात्र हैं।

अशोकस्य पराजयः

प्रथम-दृश्यम्

(चक्रवर्त्ती भारत-सम्राट् अशोकः सुभव्ये स्वीये सभा-भवने सुवर्ण-सिंहासनम् अधितिष्ठति। असौ समीपम् एव द्वितीयासने उपविष्टेन विनीत-वेष-धारिणा वयोवृद्धेन मन्त्रिणा चर्चां कुर्वन् दृष्टिपथम् अवतरति। मन्त्री अधोमुखः अस्ति—)

अशोकः— मन्त्रिवर्य ! शास्त्रेषु भवतः विश्वासः स्याद् एव ? श्रूयते, तत्र नरकस्य सविस्तरम् उल्लेखः वर्त्तते। किम् इदं सत्यम् ?

मन्त्री— (मुखम् उन्नमय्य) पूर्णतः सत्यं महाराज ! तद्-भयाद् एव तु लोक-स्थितिः वर्तते।

अशोकः— परन्तु नरक-लाभः वस्तुतः भवति अपि न वा ? किं केनचन अनुभूय निगदितम् ? अत्र भवतः कीदृशी सम्मतिः ?

मन्त्री— महाराज ! नरक-लाभः किं वा स्वर्ग-लाभः मृत्योः अनन्तरम् एव भावी इति शास्त्र-परम्परा। न केनचन स्वर्गं वा नरकं प्राप्य तद्-वृत्तान्तः अत्र आगत्य प्रचारितः। तस्माद् एतद्-विषये व्याख्यानं दुष्करम् एव।

अशोकः— किं ते शास्त्र-कारा: स्वर्ग-भोगिनः नरक-भोगिनः वा, ये याथार्थ्येन स्वर्ग-नरकौ वर्णितवन्तः ?

मन्त्री— महाराज !दिव्य-चक्षुषाम् ऋषीणां किं नाम वस्तु परोक्षम् ? भोगं विना अपि तु ते एकत्र अवस्थिताः चतुर्दश-भुवन-वृत्तं विज्ञातुं प्रभवः, न अस्मादृशाः साधारणाः लोकाः। तस्माद् अस्माकं कृते शास्त्रोक्त-मार्गाश्रयणम् एव श्रेयस्करम्।

अशोकः— साधु साधु, मन्त्रिराज ! अहम् अस्मिन् एव लोके दुष्टान् नरक-भोगं कारयिष्यामि, तान् शास्त्रानुसारं दण्डयिष्यामि। तपन-रौरव-सङ्घातादि-चतुरशीति-कुण्ड-युक्ते मामकीने नरके दण्ड-व्यवस्थायै लौह-दंष्ट्र-मुखाः तीव्र-विष-धराः वृश्चिकाः, प्रतप्ताः लौह-पुरुषाः, लौह-

स्त्रियः च भविष्यन्ति। न साम्प्रतं मे कृतापराधेभ्यः साधारण-दण्ड-दानेन मनः सन्तुष्यति। अवगतः मम आशयः? अविलम्बं शास्त्रोक्त-सामग्रीमय-नरक-निर्माणाय भवता पूर्णः प्रबन्धः क्रियताम्। वित्त-व्यय-चिन्ता न विधेया।

मन्त्री— परन्तु महाराज! .....

अशोकः— परन्तु किम्? किम् इदं न सम्भवति?

मन्त्री— सम्भवति कथं न? किन्तु नरक-व्यवस्था यमराजाधीना तिष्ठतु। श्रीमता तु यदि शक्यते, तर्हि अत्र एव भू-लोके स्वर्ग-लोकः अवतारणीयः। तेन प्रजानुरञ्जनात् श्रीमद्-यशो-राशिः श्रीरामस्य इव अक्षुण्णः स्थास्यति।

अशोकः— किं नरक-भयात् पुनः जनता, सदाचारे प्रवृत्ता सती स्वर्ग-सुखं न अनुभविष्यति? नरक-निर्माणं स्वर्गस्य एव अवतारणम्। अतः अन्यथा न विचारय। सर्वं साधु सम्पत्स्यते। शीघ्रं गत्वा नरक-निर्माणं कारय। आम्, इयद् अवश्यम् अवधेयम्— अस्य नरकस्य बाह्यः प्रदेशः तथा सुदृढः शोभनाकृतिकः च भवेत् यथा अयम् अवलोकयितुः मनः हठात् अन्तःप्रवेष्टुं प्रेरयेत्। साध्यतां स्व-कार्यम्।

मन्त्री— (उत्थाय साभिवादनम्) यद् आज्ञापयति महाराजः। (प्रणम्य निर्गच्छति)

द्वितीय-दृश्यम्

(पाटलिपुत्रस्य एकस्यां वीथिकायां निम्ब-वृक्षाधः-स्थिते चतुष्पाले कृत-सायं-भोजनाः तद्-वीथिका-वासिनः कतिचित् जनाः रात्रेः अष्ट-वादने विनोद-गोष्ठ्यै सम्मिलिताः सन्ति। अस्मिन् सुरुचिर-समये शीतलः मन्दः समीरः प्रवहति। नील-गगनं तारा-गणैः विद्योतते। पत्रावलि-मध्यात् समायान्ती चन्द्रिका चतुष्पालस्य अनुपमां सुषमां संवर्धयति। ततः प्रविशति ग्राम्य-वेष-धारी कर-गृहीत-दण्डः श्यामदत्तः—)

श्यामदत्तः— (सर्वान् सम्बोध्य) वन्दे भ्रातरः! वन्दे।

सर्वे— (सम्मिल्य एक-स्वरेण) आयाहि तात! आयाहि। दीर्घायुः स्वम्। स्मृतः एव उपस्थितः असि।

श्यामदत्तः— एतत् कथम् ? विलम्बः जातः। क्षम्यताम्। कथ्यताम्। किमर्थं स्मृतः ?

महेशः— (तारामणिं हस्तेन सङ्केतयन्) अयं वदति सम्राजा नव-निर्मितः प्रासादः नरकः इति। किम् इदं सत्यम् ? त्वं प्रामाणिकः। रहस्योद्घाटनं तु क्रियताम्। (सर्वे हसन्ति)

श्यामदत्तः— अवितथं तारामणि-वचः। विषकुम्भः पयोमुखः घटः इव निःसन्देहं सम्राजः प्रासादः सः। उग्र-प्रकृतिकः चण्डगिरिकः अस्य नरकस्य अध्यक्षः नियुक्तः सम्राजा।

गजाननः— अयं समारम्भः किमर्थं भ्रातः ?

श्यामदत्तः— परित्राणाय साधूनां दुष्टानां दलनाय च।

महेशः— हन्त ! अधुनावधि नरक-नाम तु केवलं कर्णाभ्याम् एव श्रुतम्। इदानीं सः प्रत्यक्ष-वेद्यः अपि सञ्जातः। सम्भवतः अत्र नरके नारकीय-भयानक-यातना-दानस्य सर्वः अपि प्रबन्धः स्यात्।

श्यामदत्तः— कथं न ? इह आततायिनः दण्डयितुं नरक-सदृशानि एव नील-शिखामयानि अग्नि-कुण्डानि सन्ति, प्रतप्ताः स्तम्भाः, तैल-कटाहाः च विद्यन्ते, तीव्र-विष-धराः व्यालाः वृश्चिकाः च अपि सन्ति।

गोपालः— हन्त ! हन्त !! एवंविध-दुःसह्य-यातनानां नाम आकर्ण्य तु यन्त्रित-जनानां दयनीय-दशां परिकल्प्य मम मानसं प्रकम्पते।

जनार्दनः— (श्यामदत्तम्) भ्रातः ! त्वया कथितम्, परित्राणाय साधूनां दुष्टानां दलनाय च अस्य नरकस्य निर्माणम् इति। परन्तु मद्-विचारेण कालान्तरे सापराधाः इव निरपराधाः सन्दिग्धापराधाः च अपि अवश्यं नरक-गामिनः भवितारः। अवश्यम् इह अस्माभिः सावधानैः भाव्यम्।

गोपालः— सत्यं सत्यं, सम्भवति एतत्। पूर्वम् अपि कतिधा अस्य एव सम्राजः ईदृशः प्रक्रम-भङ्ग-दोषः विलोकितः।

तारामणिः— कां चिन्तां कुरुथ ? यद् भविष्यति, तद् द्रक्ष्यामः। पूर्वम् एव चिन्तां कृत्वा किमर्थं शरीर-शोषणं क्रियेत ? चल्यताम्। सुदीर्घः समयः व्यतीतः। निद्रा-देव्याः क्रोडे आनन्देन सुप्यताम्।

(सर्वे निर्गच्छन्ति)

तृतीय-दृश्यम्

(प्रासाद-शिल्प-कौशलं पश्यन्तं मुण्डित-मस्तकं धृत-कषाय-वस्त्रं कर-धृत-भिक्षा-पात्रं नरकस्य पार्श्वीभूय गच्छन्तं वृद्धं बौद्ध-भिक्षुं सम्बोधयन्—)

चण्डगिरिकः— (रक्त-चक्षुः तीव्र-कर्कश-स्वरेण) किं पश्यसि रे पाखण्डिन् ! किं चौर्यं कर्त्तुं विचारः ? (समीपम् आगत्य हस्तं निगृह्णन्) चल अन्तः, अस्मिन् प्रदेशे परिभ्रमणस्य फलं सुस्वाद्यताम् ।

भिक्षुः— (शान्त-मनस्कः स्निग्ध-दृशा तं पश्यन्) कल्याणं भवतु कल्याणम् । कुत्र चलितव्यम् अस्ति पुत्र !

चण्डगिरिकः— (यथा-पूर्वं कठोर-वाचा) नरकं प्रति । त्वया नरक-मार्गः गृहीतः अस्ति नु ?

भिक्षुः— (साश्चर्यम्) हुं, कथम् एतत् ? अयं तु राज-प्रासादः । भिक्षार्थं गम्यते इतः ।

चण्डगिरिकः— नहि नहि, अयं नरकः । अनेन मार्गेण आगन्तुकः नरक-यातनां भोक्तुं विवशः क्रियते । चल, अन्तः प्रविश । सर्वं विलोकयिष्यसि ।

भिक्षुः— (शान्त-चेताः) कल्याणं भवतु कल्याणम् । चल, चलावः ।

(चण्डगिरिकः भिक्षुम् आदाय अन्तः प्रविशति । तत्र इतस्ततः भयानक-व्यालाः, विषधर-वृश्चिकाः हिंसक-सिंहाः, विकराल-व्याघ्राः, प्रतप्ताः तैल-कटाहाः, लौह-पुरुषाः, लौह-स्त्रियः, पाश-बन्धाः, नील-शिखामयाः अग्नयः, बीभत्साकृतिकाः दण्ड-धराः यम-दूताः च दृष्टि-पथम् अवतरन्ति । एकं यमदूतं सङ्केतयन्—)

चण्डगिरिकः— (भिक्षुम् अभिलक्ष्य) निपात्यताम् अयं प्रतप्ते तैल-कटाहे ।

यमदूतः— यद् आज्ञापयति देवः (भिक्षुं निगृह्य कटाहे पातयति, तत्समीपं च तिष्ठति निरीक्षमाणः, चण्डगिरिकः एवम् आदिश्य निज-कोष्ठे प्रविशति)

भिक्षुः— (तैल-कटाह-स्थितः एकाग्र-मनसा) धम्मं शरणं गच्छामि, सङ्घं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि ।

यमदूतः— (भिक्षुम् अविकृतं विलोक्य चण्डगिरिकम् उपसृत्य) स्वामिन् ! विचित्रः जीवः खलु भिक्षुकः । प्रतप्ते अपि तैले अविकृतः तिष्ठति । किम् अपि उच्चारितं तेन मुखात् ।

चण्डगिरिकः— (स-विस्मयम्) हुं, किम् उक्तम् ? अविकृतः तिष्ठति ! बाढम्, अग्नि-दाहेन निपीड्यताम् अयम् ।

यमदूतः— यद् आज्ञापयति देवः (भिक्षुम् उपसृत्य) निर्गम्यताम् इतः, अग्नौ प्रविश्यताम् । (भिक्षुं हस्त-ग्राहं बहिर् निःसारयति, प्रज्वलति अग्नौ च प्रवेशयति)

भिक्षुः— (ज्वालामयाग्निं प्रविश्य यथा-पूर्वं शान्त-मनसा उपविश्य) धम्मं शरणं गच्छामि, सङ्घं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि । (अग्निः शान्तः भवति, भिक्षुं प्रति शीतलायते, भिक्षुम् अविकृतं वीक्ष्य चण्डगिरिकम् उपसृत्य—)

यमदूतः— स्वामिन् ! अग्निः अपि न विकरोति भिक्षुम् । अत्र अपि भिक्षुणा उच्चारितं किम् अपि मुखात् । मायिकः प्रतीयते सः ।

चण्डगिरिकः— (साश्चर्यम्) हुम्, अग्नेः अपि भिक्षुणा परिचयः ! तेन तद्-अग्रे निज-गुणः त्यक्तः ! ! तिष्ठ, तद्-अन्तिकं त्वम् । अहं गत्वा महाराजं सूचयामि (निर्गच्छति)

चतुर्थ-दृश्यम्

(सम्राट् अशोकः विचार-मग्नः सभा-भवने तिष्ठति । न वर्त्तते तत्र कश्चन । विचार-प्रवाहं त्रोटयन् इव प्रतीहारी प्रविश्य स-विनयं साञ्जलिः)

प्रतीहारी— देव ! दर्शनार्थी चण्डगिरिकः द्वारि समुपस्थितः । अथ का आज्ञा ?

अशोकः— (मुखम् उन्नमय्य) आम्, प्रविश्यतां सः ।

चण्डगिरिकः— (प्रतीहारिणा प्रवेशितः प्रणम्य साञ्जलिः) जयतु जयतु देवः ।

अशोकः— आगम्यतां चण्डगिरिक ! अस्मिन् समये किम् आगमनस्य कारणम् ? कथ्यताम् । स्व-कार्यं सम्यक् क्रियते नु ?

चण्डगिरिकः— देव ! कुतः एवम् ? इदानीं नरक-परिधौ निरुद्देश्यं परिभ्रमन् एकः भिक्षुः नरकान्तः प्रवेशितः । प्रतप्त-तैल-कटाहे पातितः सः तैलं शीतं कृतवान् । ततः अग्नि-कुण्डे प्रवेशितः किम् अपि उच्चार्य

दाह-शक्तिं विनाशितवान् । दासी-पुत्रेण तेन नरकः सर्वथा शान्तः कृतः । न वर्तते साम्प्रतं नरकः नरकः ।

अशोकः— (साश्चर्यम्) हुं, किम् इदं कथयसि ? कथम् इदम् अभवत् ? किम् इदं सत्यम् ?

चण्डगिरिकः— (स-विनयम्) आम्, महाराज ! सर्वथा सत्यम् एतत् । असत्यम् उक्त्वा किम् अहं नरके न निपतेयम् ? स्वयं चलित्वा पश्यतु महाराजः ।

अशोकः— (स-कौतुकम्) आम् । चलामि, पश्यामि कीदृशः सः भिक्षुः ? (प्रतिष्ठते, नरकान्तः प्रविशन्तम् अशोकं वीक्ष्य)

भिक्षुः— सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख-भाग् भवेत् ॥

अशोकः— (भिक्षुम् उपसृत्य) त्वं कः ? कथं त्वया मे नरकाग्निः शान्तिं प्रापितः ?

भिक्षुः— महाराज ! अहं भिक्षुः । क्व मयि तादृशी शक्तिः ? देव ! यः सर्वेषां प्राणिनां दुःख-दावाग्नि-निवारकः सः एव करुणा-परः भगवान् बुद्धः भवतः नरक-ज्वालां शान्ताम् अकरोत् । कल्याणं भवतु कल्याणम् ।

अशोकः— (स-कोपम्) कः कामयते कल्याणं भिक्षो ! अहम् आनन्दार्थी । जनेभ्यः नारकीयां यातनां प्रदाय अधिकम् आनन्दम् अनुभवामि । कथय, अस्मिन् आनन्दे कथं त्वं बाधकः सञ्जातः ?

भिक्षुः— जीवेषु दयां दर्शयतु महाराज !, एतेन भवते शत-गुणिता-नन्द-प्राप्तिः भवित्री । 'जीवेषु दयायाः, मैत्र्याः, अहिंसायाः च व्यवहारः करणीयः' अयम् अस्ति भगवतः बुद्धस्य पावनतमः सन्देशः ।

अशोकः— (स्व-गतम्) अहो ! कीदृशी मधुर-वाणी अस्य भिक्षोः ? कीदृशं मुख-मण्डलं शान्तं करुणा-मण्डितं च ? (पुनः आत्मानं चण्डगिरिकं च प्रति अवलोक्य) यदि एषः भिक्षुः देवः, तर्हि चण्डगिरिकः राक्षसः । हन्त ! पर-पीडनेच्छया मादृशस्य मनुष्यस्य कीदृशम् अधः पतनं भवति ? अस्य आध्यात्मिक-शक्तेः पुरः मम पराजयः संवृत्तः (चण्डगिरिकम् अभिलक्ष्य) चण्डगिरिक ! न साम्प्रतं मे नरकेच्छा । न च अत्र तव किम्

अपि कार्यम्। जीवान् सन्ताप्य, परिपीड्य, निहत्य अहम् आनन्दम् अन्वभवम्, किन्तु इदानीं सः विनष्टः। यदि कर्त्तुं शक्यते, तर्हि जीवानां क्लेशं दूरीकृत्य स्व-पापानां प्रायश्चित्तं करिष्ये। पाटलिपुत्रं परित्यज्य निर्गच्छ त्वम् (अन्यान् यम-दूतान् सङ्केत्य) निर्गच्छन्तु च इमे अपि सर्वे तव सह-योगिनः। (प्रणम्य सह-योगि-सहिते चण्डगिरिके निर्गते सति भिक्षुं प्रति) भोः भिक्षो ! जीवेषु न वर्त्तते मे दया, मैत्री। तान् सम्पीड्य आनन्दम् अनुभूतवान्। परं कथम् एतद् जातम् ? न जाने। किं कृपया त्वं वक्ष्यसि ?

भिक्षुः— (करुणया दृशा पश्यन्) महाराज ! आत्मवत् सर्व-भूतानि न अनुभूतानि भवता। आत्मवत् एव तेषाम् अपि दुःख-सुखानि भवन्ति— इदं न कदाचन विदितं भवता। इदम् एव एतस्मिन् दुष्कर्मणि प्रवृत्तेः कारणम्। न भवता वास्तविकः आनन्दः उपलब्धः। एतद् आनन्दस्य आभासमात्रम् आसीत्। अधुना सर्वेषु प्राणिषु दयां मैत्रीं च प्रदर्श्य शतगुणितम् आनन्दम् अनुभवतु भवान्। सर्वं जगत् सुखमयं भविष्यति। महाराज ! भवता यन्त्रणायाः नरकः निर्मापितः। इदानीं शान्त्याः स्वर्गं प्रतिष्ठाप्य शाश्वत-कीर्त्तिम् अर्जयतु भवान्। प्रसीदतु भवति भगवान् तथागतः। कल्याणं भवतु कल्याणम्। गच्छामि तावत्। (निर्गच्छति)

अशोकः— (सशोकः) हं हो ! भिक्षु-वचः सर्वथा सत्यम्। न कदाचन मया जीवेषु करुणा-मैत्री-भावः प्रदर्शितः, न तेषां सुख-दुःखेषु भागः गृहीतः, सदा एव तेभ्यः दुःखं प्रदाय सुखम् अनुभूतम्, तेषाम् अपि दुःखं भवति इति न कदाचन ज्ञातम्, तान् सुखयितुं तु कदाचिद् विचारितम् एव न। (तैल-कटाहं वीक्ष्य) अहह ! सः विद्यते सम्मुखं तैल-कटाहः। पश्यामि तावत्। किम् अयं माम् अपि सन्तापयति ? (कटाहम् उपसृत्य स्वाङ्गुलिं तत्र निमज्जयति, तत्क्षणम् एव निःसार्यं करं निधुन्वन् स-दुःखम्) हन्त ! हन्त ! कीदृशं तप्त-तैलम् ? असह्यः अस्य सन्तापः। न जाने, कियन्तः सन्तापिताः मादृशाः प्राणिनः। (अग्निं प्रति विलोक्य) अयम् अग्निः प्रज्वलन् अस्ति। अनुभवामि तावत् एनम् अपि (पादम् अग्नौ निदधाति, तत्कालं निःसारयति, उच्छलन् च पीडया) अहो ! कष्टं कष्टम्। भृशं दहति खलु एषः। परेषां दुःख-वेदनाम् अजानता मया असंख्याः प्राणिनः अग्निसात् कारिताः। कीदृशम् अघमाय मे एषां दुष्कर्मणां प्रायश्चित्तं भवेत् ? चलित्वा विचारयामि तावत् (प्रतिष्ठते)

पञ्चम-दृश्यम्

(प्राभातिक-शीतल-सुगन्धित-समीरः प्रवहति। उपवन-कुसुम-तीक्ष्ण-मधुर-गन्धः प्रसरति। स्वतन्त्र-शुक-सारिका-मयूरादि-पक्षिणां कल-रवः निद्रां विद्रावयति। वातावरणं सर्वतः शान्तं सुरम्यं च वर्त्तते। राज-प्रासादाद् अधःस्थित-मार्गे सञ्चरन् धृत-कषाय-वस्त्रः कर-धृत-भिक्षा-पात्रः सप्त-वर्षीयः मधुरं गायति—)

भिक्षुबालकः— अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदम्।
अप्पमत्ता न मीयन्ति, ये पमत्ता यथा मता॥

अशोकः— (वातायन-मार्गेण वायुं सेवमानः गायन्तं बालकम् आकारयितुम्) अस्ति अत्र कश्चन ?

सेवकः— (उपस्थाय साञ्जलिः) आज्ञापयतु महाराज ! कः नियोगः ?

अशोकः— गच्छ तावत्। अधः मार्गे गायन्तम् एतं बालकम् अत्र उपस्थापय।

सेवकः— यद् आज्ञापयति देवः (निर्गच्छति, भिक्षु-बालम् उपसृत्य) एहि बाल ! महाराजः त्वां द्रष्टुम् इच्छति।

भिक्षुबालकः— कल्याणं भवतु कल्याणम्। चल्यताम्। कुत्र वर्त्तते महाराजः ?

सेवकः— इतः इतः आयाहि। दर्शयामि तावत् (भिक्षु-बालकम् अशोकान्तिकं परित्यज्य निर्गच्छति)

भिक्षुबालकः— कल्याणं भवतु कल्याणम्।

अशोकः— भिक्षो ! मार्गे यद् गीतम्, तस्य सकृत् आवृत्तिः तु क्रियताम्।

भिक्षुबालकः— अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदम्।
अप्पमत्ता न मीयन्ति ये पमत्ता यथा मता॥

अशोकः— साधु साधु, भिक्षो ! अस्य सरलार्थः कः ?

भिक्षुबालकः— महाराज ! पाली-भाषायां लिखितस्य धम्मपदस्य अस्य श्लोकस्य अयम् अर्थः यत्— 'अप्रमादः अमृतप्राप्तेः पन्थाः, किन्तु प्रमादः मृत्यु-मार्गः अस्ति। ये अप्रमत्ताः सन्ति, ते नैव म्रियन्ते। परं ये

प्रमत्ताः सन्ति, ते तु मृताः एव। हिताऽहित-ज्ञान-शून्यः खलु प्रमादी उच्यते।

अशोकः— बाढं तावत्। किं त्वं कथयिष्यसि ? अमृत-प्राप्त्युपायः कः ?

भिक्षुबालकः— महाराज ! अहं बालकः। जीवेषु दया-मैत्र्योः प्रदर्शनं, तेषां सततं हित-चिन्तनं च, इदम् एव श्रुतवान् अस्मि आप्त-जनेभ्यः। श्रद्धेयं स्थविरम् उपगुप्तं समाहूय स-विस्तरं विज्ञायतां ततः अमृत-प्राप्त्युपायः।

अशोकः— कुत्र वर्तते तस्य वासः ?

भिक्षुबालकः— मथुराम् अधिवसति सः महात्मा। साधु, गच्छामि तावत्।

अशोकः— स्थीयतां स्थीयताम्। भिक्षा तु गृह्यताम् (भिक्षां ददाति)

भिक्षुबालकः— कल्याणं भवतु कल्याणम् (भिक्षाम् आदाय निर्गच्छति)

षष्ठ-दृश्यम्

(महाराजः अशोकः सभा-भवने एकाकी किञ्चित् चिन्तयन् वर्त्तते। तदीयं ध्यान-भङ्गं कुर्वन् साञ्जलिः)

प्रतीहारी— महाराज ! उपगुप्त-नामा भिक्षुकः दर्शनार्थी द्वारि तिष्ठति।

अशोकः— (मुखम् उन्नमय्य) आनीयताम् आनीयतां सः।

प्रतीहारी— यद् आज्ञापयति महाराजः (निर्गच्छति, उपगुप्तम् उपस्थाप्य पुनः निर्गच्छति)

उपगुप्तः— कल्याणं भवतु कल्याणम् (पादयोः पतितम् अशोकम् उत्थापयन्) उत्थीयताम् उत्थीयताम्। किमर्थम् इत्थं पादयोः पतितः भवान् ? किमर्थम् अहं भवता आहूतः ?

अशोकः— (उत्थाय दीन-स्वरेण) भगवन् ! आश्रयः मे भवान्। कृपया दर्शयतु माम् अमृत-प्राप्त्युपायम्। मया प्राणिनां परि-पीडनाय नरकः

निर्मापितः । अगणिताः जीवाः प्राणेभ्यः वियोजिताः । अस्ति किञ्चन मे तत्-पापं प्रमार्ष्टुं प्रायश्चित्तम् ?

उपगुप्तः— महाराज ! भगवता तथागतेन भवते सुबुद्धिः प्रदत्ता । कल्याणं भवतु कल्याणम् । जीवेषु मैत्र्याः दयायाः च व्यवहारं करोतु । अनयोः प्रचार-प्रसाराभ्यां भविष्यति भवदीय-पापानां प्रायश्चित्तम् । हिंसाम् अवरोध्य अहिंसोपदेशेन सुख-शान्ति विस्तारयतु । प्राप्स्यति भवान् एतेन अमृतम् । यदि वर्त्तते प्रायश्चित्त-चिन्ता वस्तुतः, तर्हि उच्यताम् एकाग्र-मनसा— "धम्मं शरणं गच्छामि, सङ्घं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि" इति ।

अशोकः— (सहर्षम्) सत्यम् । सत्यम् । एतद् अहम् अवश्यं प्रार्थयिष्ये । अत्यन्त-व्याकुलः आसम् । इदानीं निश्चिन्तः जातः । मिलितः मे मन्त्रः । यथा-शक्ति भवन्निर्दिष्ट-मार्गेण व्यवहरिष्यामि । न भविष्यति अग्रे अशोक-राज्ये हिंसायाः प्रसारः, दुष्टानाम् उपद्रवः च । राम-राज्यं भविष्यति राम-राज्यम् । एक-वारं पुनः श्रावयितव्यम्, किं वदेयम् अहम् ? विस्मृतवान् अस्मि ।

उपगुप्तः— प्रार्थ्यताम्— "धम्मं शरणं गच्छामि, सङ्घं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि" इति ।

अशोकः— (साञ्जलिः समुपविश्य निमीलित-नयनः स्थिर-मनाः द्वित्र-वारं वदति—)

"धम्मं शरणं गच्छामि,
सङ्घं शरणं गच्छामि,
बुद्धं शरणं गच्छामि"

(शनैः शनैः पटाक्षेपः)

वन्दी चन्द्रगुप्त

कथा-वस्तु— तीन दृश्यों में समाप्त होने वाले इस रूपक के **प्रथम-दृश्य में**— यूनान देश के सम्राट् सिकन्दर का एक सेनापति सेल्यूकस भारत पर आक्रमण के समय में पंजाब में तक्षशिला के एक वन भाग में अपने शिविर में ठहरा हुआ है। वह भारतीय प्राकृतिक सुषमा से आकृष्ट हो कर उसके वर्णन में तल्लीन है कि उसके पास उपस्थित हो कर प्रतीहारी एक सैनिक के आने की सूचना देता है। सैनिक को प्रविष्ट कराने की आज्ञा पा कर प्रतीहारी सैनिक को प्रविष्ट करा कर चला जाता है। सैनिक सेनापति का यथोचित अभिवादन करके बताता है कि कुछ योद्धाओं के साथ तक्षशिला प्रदेश के चाणक्य के शिष्य चन्द्रगुप्त को बलात् वन्दी बना कर कारागार में डाल दिया है। सेल्यूकस सैनिक का मुँह मीठा कराने के लिये अपनी पुत्री हेलना को आवाज देता है तथा चन्द्रगुप्त की वीरता का वर्णन करके अपने सैनिकों को साधुवाद देता है जिन्होंने जीते हुए ही एक शेर को पकड़ा है। हेलना अपने पिता के मुख से चन्द्रगुप्त के शौर्य की गाथा सुन कर चन्द्रगुप्त के प्रति आकृष्ट हो जाती है और उसको देखने की इच्छा उसके मन में जगती है। वह पिता और सैनिक के साथ चन्द्रगुप्त को देखने की चाह से कारागार में जाती है। **द्वितीय-दृश्य में**— अनेक पकड़े गये वन्दीजनों में चन्द्रगुप्त को उसके शारीरिक वैभव से और अत्युत्कट तेजःपुञ्ज से दूर से ही हेलना पहचान जाती है। उसे छोड़ने के लिये पिता से प्रार्थना करती है। परन्तु सेल्यूकस उस हेलना को राज-व्यवहार से अनभिज्ञ बता कर उस से ध्यान हटाने के लिये कहता है। उन्मना बेचारी हेलना पिता के साथ ही अपने शिविर में लौट आती है। **तृतीय-दृश्य में**— चन्द्रगुप्त का ही चिन्तन करती हुई हेलना आधी रात के समय अकेली ही कारागार पहुँचती है और अपने गुम हुए एक मोतियों के हार को ढूँढने का बहाना बना कर द्वारपाल से कारागार के द्वार को खोलने के लिये कहती है। द्वार खोल देने पर वह सीधी चन्द्रगुप्त के पास जाती है। अन्य सभी वन्दी

अपनी अपनी जगह निद्रामग्न हैं। उन्निद्र चन्द्रगुप्त हेलना को देख कर उठ खड़ा होता है और उससे उसका परिचय पूछता है। वह अपने आपको सेनापति सेल्यूकस की पुत्री के रूप में परिचित कराती है। चन्द्रगुप्त आधी रात में अकेली ही उसके आने का उससे कारण पूछता है। वह उसको कारागार से मुक्त करने का कारण बताती है। चन्द्रगुप्त पुनः उससे पूछता है कि उस पर उसका इतना अनुग्रह क्यों है ? हेलना उत्तर देती है कि वह उस प्रकार के देश भक्त शूरवीर को स्वतन्त्र ही देखना चाहती है— नरक यातना भोगते हुए नहीं। चन्द्रगुप्त उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है, किन्तु उसको अपने सम्राट् सिकन्दर, पिता सेल्यूकस और अपनी मातृभूमि के प्रति विश्वासघात नहीं करने के लिये उपदेश देता है। भारतीय जन न स्वयं मार्ग भ्रष्ट होते हैं और न दूसरों को ही वैसा देखना चाहते हैं— यह भी वह प्रसंगागत बता देता है। हेलना कहती है कि इसी कारण तो वह उस चरित्राढ्य पर इतनी अधिक अनुरक्त है। चन्द्रगुप्त की मनःकामना यथा शीघ्र प्रपूर्ण हो तथा हेलना अपनी शुभाशंसा प्रकट करती है। चन्द्रगुप्त इस पर अपना आभार व्यक्त करता है और उसको इसका प्रत्युपकार किस प्रकार करना चाहिये ? यह भी उससे जानने की इच्छा प्रकट करता है। हेलना केवल इतना ही उत्तर देती है कि मनोरथ सिद्ध हो जाने पर वह उसको भूले नहीं और यथासमय उसे अपने चरणों की दासी का पद दे कर अवश्य अनुगृहीत करे। चन्द्रगुप्त वैसा करने का वचन देता है और उससे लौट जाने की प्रार्थना करता है जिससे हेलना अपने आपको पाषाण-हृदयवाली होने का अनुभव करती हुई चन्द्रगुप्त को प्रणाम करके लौट जाती है।

चरित्र-चित्रण— सेल्यूकस भारतीय प्राकृतिक सुषमा और भारतीय शूर वीरों का हृदय से प्रशंसक है। अपने कर्त्तव्य पालन में तत्पर वह अपनी पुत्री से प्रार्थना किये जाने पर भी वन्दी बनाये गये चन्द्रगुप्त को मुक्त नहीं करता है। उसकी पुत्री हेलना तो चन्द्रगुप्त के तेजःपुञ्ज, शारीरिक-सौष्ठव, चारित्रिक सम्पदा, और देश-भक्ति से उसके प्रति आकृष्ट हो जाती है। उसको मुक्त करने के लिये आधी रात में कारागार में वह जाती भी है। चन्द्रगुप्त के द्वारा अपने सम्राट् सिकन्दर, पिता सेल्यूकस और मातृ-भूमि के प्रति विश्वासघात न करने का उपदेश दिये जाने पर वह उसके परामर्श को स्वीकार कर लेती है। चन्द्रगुप्त से ही प्रार्थना

करने पर वह उस से अपने को स्वीकार कर लेने का वचन ले कर ही लौटती है। चन्द्रगुप्त देश-भक्त महावीर है। दुर्भाग्यवश सेल्यूकस का वन्दी बन जाने पर भी वह चरित्र-पतित नहीं होता। सेल्यूकस की पुत्री हेलना को भी कर्त्तव्य-पालन की वह शिक्षा देता है। हेलना से प्रार्थना किये जाने पर उस को अङ्गीकार करने का भी वह उसे वचन देता है। सैनिक, प्रतीहारी और कारागार का द्वारपाल ये सब अपने अपने कर्त्तव्य-पालन के प्रति सदा जागरूक रहने वाले हैं।

उद्देश्य— जो जिस कार्य में नियुक्त किया गया है, उसे सब प्रकार से उस कार्य के अपने दायित्व का पूर्ण निर्वाह करना चाहिये। शौर्य का सदैव सर्वत्र सम्मान करना चाहिये। प्रगाढ अनुराग होने पर शत्रुता भी मिट जाती है। मनुष्य को सदा चरित्र-सम्पन्न होना चाहिये। न स्वयं को मार्ग-भ्रष्ट होना चाहिये और न दूसरे को ही मार्ग-भ्रष्ट होने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये। स्वदेश-भक्ति का परित्याग कदापि नहीं करना चाहिये। मातृ-भूमि और स्वदेश-शासक के प्रति विश्वासघाती कभी नहीं होना चाहिये। इत्यादि उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिये ही इस रूपक का अवतार हुआ है।

पात्र-परिचय

सेल्यूकस— यूनान देश के सम्राट् सिकन्दर का प्रधान सेनापति।

चन्द्रगुप्त— वन्दी बनाया गया और चरित्राढ्य देश-भक्त चाणक्य का शिष्य।

हेलना— सेल्यूकस की पुत्री, चन्द्रगुप्त की गुणराशि से आकृष्ट चित्त वाली अनुरागिणी बाला।

सैनिक— सेल्यूकस की सेना का एक सदस्य।

प्रतीहारी— सेल्यूकस के शिविर का द्वारपाल।

द्वारपाल— कारागार का द्वाररक्षक।

वन्दी चन्द्रगुप्तः

प्रथम-दृश्यम्

(भारत-भूमौ आक्रमण-कारिणः सम्राट्-सिकन्दरस्य सेनापतिः सेल्यूकसः तक्षशिला-प्रान्तस्य एकस्मिन् वन्य-भागे स्व-शिविरे चिन्तन-मनाः प्रभाते पर्यङ्कस्थः दृष्टिपथम् आयाति—)

सेल्यूकसः— अहह ! अत्रत्याः प्रातः-कालीनाः सूर्य-रश्मयः अपि कीदृशम् आनन्दं ददति ? स्वदेशे यूनाने दृश्यमानेषु रश्मिषु अत्रत्येषु च महद् अस्ति विस्मयावहं वैचित्र्यम् । प्रभात-कालिकः शीतलः मन्दः सुरभितः समीरः अपि अमन्दम् आनन्दम् एव वितरति । धन्यम् अत्रत्यं सर्वम् अपि प्राकृतिकं वातावरणम् । तेन एव तु वयं वैदेशिकाः अत्र स्वाधिपत्यं विधाय स्वर्गोपमं सुखम् ऐश्वर्यम् उपभोक्तुं प्रयत्नतः नैव विरमामः ।

प्रतीहारी— (प्रविश्य, यथोचितम् अभिवाद्य च) महाराज ! भवन्तं दिदृक्षुः सैनिकः एकः शिविरात् बहिर् उपस्थितः । अग्रे श्रीमन्तः प्रमाणम् ।

सेल्यूकसः— हुं, शीघ्रं प्रवेश्यताम् एषः । न जाने, किं सूचयितुम् आगतः स्यात् ?

प्रतीहारी— यद् आज्ञापयति देवः (प्रणम्य निर्गच्छति, सैनिकं च अन्तः प्रवेश्य पुनः निर्गच्छति)

सैनिकः— (प्रविश्य साभिवादनम्) जयतु जयतु श्रीमान् सेनापतिः । साम्प्रतं स्व-स्वामिनं सिकन्दर-महानुभावं सन्देष्टुम् अर्हति यत् यः तस्य महान् शत्रुः तक्षशिला-प्रदेश-चाणक्यस्य अन्तेवासी अस्माकं सेनायाः गतिम् अधुनावधि अवरुद्धवान् आसीत्, अद्य रात्रौ एव सः कतिपय-स्व-योद्धृभिः सह बलात् वन्दीकृत्य कारागारे निपातितः । अचिरम् एव स्वामिनः चिर-सञ्चिता मनः-कामना पूर्णा भविष्यति ।

सेल्यूकसः— (स्वपुत्रीं हेलनां शब्दापयति) अयि हेलने ! शृणोषि ? किञ्चित् सितोपलं तु आनय (पुनः स-हर्षं सैनिकं प्रति) साधु साधु । मिष्ट-

मुख-करण-योग्यः असि । अधुना पञ्चनदे आशु एव अस्माकम् अविकलम् आधिपत्यं सम्पत्स्यते । विचित्रः वीरः वर्तते अयं चाणक्यस्य शिष्यः तु । ईदृशी शूरता तु न कुत्र अपि अधुनावधि द्रष्टुं मिलिता । किन्तु यूयम् अपि ततः नैव न्यूनाः, ये जीवन्तम् एव सिंहं निगृहीतवन्तः ।

हेलना— (सितोपलम् आदाय उपतिष्ठते) गृह्यताम् अयं पितृपाद ! किन्तु माम् अपि तु किञ्चित् परिचाययतु, कः अयं वन्दीकृतः चाणक्य-शिष्यः ? यं भवान् अपि स्वमुखेन एवं प्रशंसति ।

सेल्यूकसः— पुत्रि ! सः चाणक्य-शिष्यः अत्युद्भटः वीरः वर्त्तते । चाणक्यस्य तीव्र-बुद्धया प्रेरिता तस्य प्रचण्ड-शक्तिः अस्मदीयां विजयिनीं सिकन्दर-सेनां पृष्ठे एव अपसर्त्तुं विवशाम् अकरोत् ।

हेलना— (किञ्चित् विचार्य इव) तस्य किं नाम अस्ति तात !

सेल्यूकसः— तं चन्द्रगुप्तं निगदन्ति जनाः ।

हेलना— (स-विस्मयम्) किं 'चन्द्रगुप्तः' इति तस्य अभिधानम् ?

सेल्यूकसः— आम्, पुत्रि ! इदम् एव तस्य नाम । किन्तु प्रचण्डः अपि सः अस्माकं वीर-भटैः निगृहीतः अस्ति । इदम् एव सन्देष्टुम् अयं सैनिकः इह उपस्थितः । अस्य मुखं मिष्टं कुरुष्व ।

(हेलना सितोपलं सैनिकाय ददाति । सैनिकः तं स्वमुखे रक्षति)

हेलना— अधुना सः कुत्र तिष्ठति ?

सेल्यूकसः— कारागारे पुत्रि ! यदि तं द्रष्टुम् इच्छसि, तर्हि चल मया सह । अहं तत्र एव गच्छामि ।

हेलना— आम्, तात ! चलामि ।

(हेलनया सैनिकेन च सह सेल्यूकसः निर्गच्छति)

द्वितीय-दृश्यम्

(कारागारे अनेके निगृहीताः सैनिकाः सन्ति । तेषु प्रलम्ब-बाहुः विशाल-वक्षाः उन्नत-भालः परम-तेजस्वी चन्द्रगुप्तः अपि तिष्ठति)

हेलना— (दूरात् एव तं चन्द्रगुप्तं सम्भावयन्ती) तात ! किं सः एव चन्द्रगुप्तः ?

सेल्यूकसः— आम् पुत्रि ! तव अनुमानं सत्यम् । अनेन एव महावीरेण अस्माकं सेनायाः निद्रा भग्ना कृता आसीत् । किन्तु साम्प्रतम् एषः स्व-दुष्कृत्ये अवश्यं पश्चात्तपन् स्यात् ।

हेलना— तात ! भवान् तु महावीरः । एकेन महावीरेण अन्यस्य महावीरस्य सम्मानः एव करणीयः । तत् किं न एषः शौर्य-खनिः मुच्यते निज-मातृभूमि-रक्षणोद्यतः ?

सेल्यूकसः— त्वं मुग्धा असि । न जानासि राज-व्यवहारम् । तेन एव एवं ब्रवीषि । एक-वारं स्व-हस्ते आगतस्य शत्रोः प्रमोचनं स्व-घाताय एव भवति । चल । ततः ध्यानम् अपसारय । स्व-शिविरम् एव परावर्तावहे ।

(सेल्यूकसः तान् वन्दिनः वीक्षमाणः परावर्तते, हेलना च अपि अनिच्छन्ती तम् अनुसरति, किन्तु स्व-मनः तत्र कारागारे एव परित्यजति)

तृतीय-दृश्यम्

(अर्धरात्रि-समयः । सर्वत्र नीरवता व्यापृता अस्ति । सर्वे निद्रा-सुखम् अनुभवन्ति । परन्तु)

हेलना— मम मनसि शान्तिः न अस्ति । चन्द्रगुप्तस्य प्रथम-दर्शन-दिने एव तं प्रति आकृष्ट-चित्ता सञ्जाता अस्मि । तदीयं दुर्लभं शौर्य-वैभवं शारीरिक-सौष्ठवं च मम मानसम् उद्वेलितम् अकरोत् । पित्रधीना अपि तं भृशं कामये । दृष्ट्वा एव तं शान्तिं लप्स्ये । तत् कारागारे चलामि तावत् । न कः अपि पश्यति माम् इह (कारागारम् उपेत्य द्वारपालम्) अयि उद्घाटय तावत् द्वारम् । अहं दिने अत्र आगता स्वकीयं मुक्ताहारं क्वचित् पातितवती । तम् अन्वेष्टुम् आयाता अस्मि ।

द्वारपालः— यथा रोचते भवत्यै । भवतीम् अन्तः प्रवेशात् निवारयितुं कस्मिन् सामर्थ्यम् ? भवती वर्त्तते अस्माकं सेनापतेः प्रिया पुत्री । वयं भवतीं सदा सम्मानयामः (द्वारम् उद्घाटयति)

हेलना— साधु साधु (अन्तः प्रविशति । हारान्वेषण-मिषेण इतस्ततः परिचरन्ती चन्द्रगुप्तम् उपगच्छति । स्व-स्व-स्थाने अन्ये सर्वे वन्दिनः निद्राधीनाः सन्ति । किन्तु चन्द्रगुप्तः उन्निद्रः एव चिन्ता-मग्नः आस्ते)

चन्द्रगुप्तः— (हेलनाम् अवलोक्य अभ्युत्थाय च) भवती का ?

हेलना— अहम् अस्मि प्रधान-सेनापतेः तनया हेलना ।

चन्द्रगुप्तः— (स-विस्मयम्) कथ्यताम्, कः आदेशः ? अस्मिन् अर्धरात्रे एकाकिन्याः आगमनस्य किं कारणम् । भवत्याः पिता कुत्र वर्तते ?

हेलना— (मन्द-स्वरेण) वीरवर ! भवन्तम् उन्मोचयितुम् ।

चन्द्रगुप्तः— (साश्चर्यम्) किं माम् उन्मोचयितुम् ?

हेलना— आम् आम्, भवन्तम् एव उन्मोचयितुम् ।

चन्द्रगुप्तः— किम् अहं ज्ञातुं शक्नोमि ? मयि इयती भवत्याः ममता कुतः ?

हेलना— अहं न कामये यत् भवादृशः शूर-वीरः एवं नरक-यातनाम् अनुभवतु । अहं स्वतन्त्रम् एव भवन्तं द्रष्टुम् इच्छामि ।

चन्द्रगुप्तः— अयि महाशये ! अहं भारतीयः अस्मि । भारतीयाः न स्वयं मार्ग-भ्रष्टाः भवन्ति, न च अन्यान् एव तथा मार्ग-भ्रष्टान् द्रष्टुम् अभिलषन्ति । मां परिमोच्य भवती किं स्वकीयं सम्राजं सिकन्दरं, पितरं सेल्यूकसं, स्वीयां मातृ-भूमिं च प्रति विश्वासघातं न करिष्यति ? गच्छतु कृपया स्व-शिविरम् एव गच्छतु । अहं तु सामान्यः सैनिकः अस्मि । निज-मातृ-भूमि-रक्षणं मम प्रथमं कर्त्तव्यम् । भवत्याः सम्राजा पित्रा च स्वभावतः शान्ति-प्रियाणाम् अस्माकं भारतीयानां शान्ति-भङ्गः कृतः । एतान् विदेशिनः निःसार्य एव सन्तोषं प्राप्स्यामि ।

हेलना— अनेन सदाशयेन एव तु अहं भवति चरित्राढ्ये भारतमातृ-पुत्रे समधिकम् अनुरज्यामि । भवतः मनोरथः अचिरम् एव पूर्णः भवतु ।

चन्द्रगुप्तः— भवत्याः अस्याः शुभ-कामनायाः कृते अत्यन्तम् आभारी अस्मि । एतदर्थं कः प्रत्युपकारः कर्तुं शक्यते मया ? कृते च प्रतिकर्त्तव्यम् एषः धर्मः सनातनः ।

हेलना— यदि आर्यः प्रसीदति, तर्हि सिद्ध-मनोरथः भवान् मां न विस्मरतु कदापि, स्व-चरणयोः दासीपद-दानेन च अवश्यम् अनुगृह्णातु ।

चन्द्रगुप्तः— (प्रसन्न-मुद्रायाम्) तथास्तु । किन्तु इदानीं कृपया प्रतिनिवर्ततां भवती ।

हेलना— यद् आदिशति हृदयेश्वरः । पाषाण-हृदया प्रतिनिवर्त्ते अहम् (प्रणम्य निर्गच्छति)

(शनैः शनैः पटाक्षेपः)

प्रत्युत्पन्न-मति नापित

कथा-वस्तु— इस रूपक में चार दृश्य हैं। **प्रथम-दृश्य में**— पद्मा पति मनोहर के सम्मुख धनोपार्जन का प्रस्ताव रखती है। मनोहर अर्थ को अनर्थ का साधन बताता है। पद्मा उससे सुवर्णहार दिलवाने के लिये आग्रह करती है और कहती है कि यदि इसकी इच्छा पूरी नहीं की गयी तो वह आत्म-हत्या कर लेगी। मनोहर आत्म-हत्या को नरक में गिरने का कारण बताता है। पद्मा कहती है कि पति के रूप में अर्धाङ्ग होने से मनोहर को भी नरक भोगना पडेगा। मनोहर इस पर पद्मा को कहता है कि वह आत्म-हत्या न करे। धनोपार्जन के लिये विदेश जाने का भी वह पद्मा को आश्वासन देता है। **द्वितीय-दृश्य में**— रात्रि में सात बजे के समय मनोहर एक वन-प्रदेश में पहुँचता है और वृक्ष के नीचे अपना पड़ाव डालता है। वहाँ उसके सामने एक विकट आकृति का दानव प्रकट हो कर मनोहर को खाने का प्रयास करता है। मनोहर तब दर्पण में दानव को उसकी छाया दिखा कर डरा देता है। दानव उससे मुक्ति की प्रार्थना करता है। मनोहर सोने की दो करोड मोहरें और दो हजार रत्न-जटित हार भेट करने पर ही दानव को छोडने का वचन देता है। दानव मनोहर को उसकी मन चाही धनराशि और हार भेट कर अपने कन्धे पर बैठा कर उसको उसके घर छोडने जाता है। **तृतीय-दृश्य में**— मनोहर सोयी हुई पद्मा को जगा कर सोने की मोहरें और रत्नों के हार संभला देता है। पद्मा उनके मिलने का मूल जानने का हठ दिखाती है। मनोहर दूसरे दिन सुबह बताने का आश्वासन दे कर पद्मा को सो जाने की प्रेरणा दे कर स्वयं भी सोने के लिये चला जाता है। **चतुर्थ-दृश्य में**— दानव अपने मामा के सामने अपने साथ घटी घटना का वर्णन करता है। मामा कहता है कि उसके साथ धोखा हुआ है। दानव को ले कर वह मनोहर के घर जाता है। मनोहर पाँच-छः दर्पणों में मामा की छाया दिखा कर उसके मन में विभीषिका उत्पन्न कर देता है। डर कर मामा भाग छूटता है और उसके साथ दानव भी भग जाता है।

चरित्र-चित्रण— इसमें प्रधानपात्र मनोहर है। नापित हो कर भी वह अपनी पत्नी पद्मा के तुल्य अर्थ-लोलुप नहीं है। पद्मा को शास्त्र-वचनानुसार अर्थ की अनर्थकारिता समझाता है। वह आत्म-हत्या को नरक का कारण बता कर आत्म-हत्या करने से पद्मा को मना भी करता है। किन्तु उसकी हठ से अर्थोपार्जन के लिये

अपनी व्यावसायिक पेटी ले कर घर से चल पडता है। मार्ग में सामने आये हुए विकराल दानव को देख कर भी वह उससे डरता नहीं है, प्रत्युत प्रत्युत्पन्न मति से वह दर्पण में उसी को दिखा कर उसी को डरा देता है और वाक्-चातुर्य से उसको वशंवद बना कर उससे अपना अभीष्ट भी सिद्ध कर लेता है। दर्पण से वह दानव के मामा को भी डरा कर पलायन करने के लिये विवश कर देता है। पद्मा द्वितीय पात्र है। स्त्री-स्वभाव होने से वह अर्थ-लोलुप है और रत्न-हार पहनने की कामना रखती है। 'अर्थ अनर्थ का मूल होता है' पति द्वारा यह समझाने पर भी वह अपना हठ छोडती नहीं है। अपने मनोरथ की पूर्त्ति के अभाव में आत्म-हत्या करने की भी वह अपने मन की बात कहती है। उसकी उत्कट प्रेरणा से ही मनोहर अर्थोपार्जन के लिये प्रस्थान करता है। तृतीय पात्र दानव है जिसमें तामसिकता के कारण सत्यासत्य को विचारने का भी विवेक नहीं है। इसीलिये मनोहर के दर्पण में अपने ही प्रतिबिम्ब को देख कर उससे डर जाता है और मनोहर का वशंवद बन बैठता है। इतना ही नहीं, मनोहर जो जो आज्ञा देता है, वह उसकी पालना भी करता है। चतुर्थ पात्र दानव का मातुल है। वह भी अपने भानजे दानव के समान ही अविवेकी और महामूढ है। मनोहर के दर्पणों में अपनी ही छायाओं को देख कर उनसे डर जाता है और पलायन कर बैठता है।

उद्देश्य— यद्यपि अर्थ अनर्थ का मूल होता है, तथापि सांसारिक जीवन-निर्वाह उसके विना सम्भव नहीं है— यह विचार कर अर्थोपार्जन करना ही चाहिये। विवेक के साथ किया गया अर्थ का व्यय हानिकारक नहीं होता है। संकट आ जाने पर व्याकुल भी नहीं होना चाहिये, अपि तु धैर्य के साथ प्रत्युत्पन्न मति से कार्य सिद्ध करना चाहिये। यही इस रूपक का उद्देश्य है।

पात्र-परिचय

मनोहर— अर्थ को अनर्थ का मूल बताने वाला, प्रत्युत्पन्न मति का जाति से नापित, संकट में भी व्याकुल नहीं होने वाला पद्मा का पति।

पद्मा— मनोहर की अर्थ-लोलुप पत्नी।

दानव— मूर्ख, अविवेकी, अपनी ही छाया से डर जाने वाला, तामसिक विकट आकृति का दैत्य और मनोहर का आज्ञाकारी सेवक।

मातुल— दानव के तुल्य अपने प्रतिबिम्ब से डर जाने वाला दानव।

प्रत्युत्पन्न-मतिः नापितः

प्रथम-दृश्यम्

(स्थानम्— गृहस्य प्राङ्गणम् । समयः— रात्रेः दश-वादनम् । मनोहरः खट्वायाम् उपविष्टः अस्ति, अधः च तस्य भार्या पद्मा किञ्चित् चिन्तयन्ती इव विवर्ण-वदना अध्यास्ते)

पद्मा— स्वामिन् ! कियद्-वारं प्रार्थितं मया । यदि अत्र न वर्त्तते किञ्चित् जीविका-साधनं, तर्हि क्वचित् अन्यत्र एव गत्वा धनम् उपार्जयतु ।

मनोहरः— प्रिये ! न जानासि त्वम् । अर्थः अनर्थं हि जनयति । शृणु, वृद्धाः किम् उपदिशन्ति—

"स्तेयं हिंसाऽनृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः ।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ।।
एते पञ्चदशाऽनर्था ह्यर्थ-मूला मता नृणाम् ।
तस्मादनर्थमर्थाऽख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ।।"

भगवत्कृपया प्रातः सायं द्विदल-रोटिका उदर-पूरं प्राप्यते । किं तेन न सन्तोषः ?

पद्मा— हा ! उदर-पोषणं तु एकः कुक्कुरः अपि करोति । पुनः मानवे पशौ च कः भेदः ?

मनोहरः— इदम् एव तु त्वं न जानासि ! किम् इन्द्रियैः सांसारिक-सुखोपभोगः एव मानव-जीवनस्य चरमं लक्ष्यम् ? अहं तु इच्छामि—

"जिह्वे ! कीर्त्तय केशवं मुर-रिपुं चेतो भज श्रीधरं,
पाणि-द्वन्द्व ! समर्चयाऽच्युत-कथाः श्रोत्र-द्वय ! त्वं शृणु ।
कृष्णं लोकय लोचन-द्वय ! हरेर्गच्छाऽङ्घ्रि-युग्मालयं,
जिघ्र घ्राण ! मुकुन्द-पाद-तुलसीं मूर्धन् ! नमाऽधोक्षजम् ।।" इति

पद्मा— अलम् अलम्। यदा पश्यामि, तदा एव उपदेशान् दातुं प्रारभते! अधुना अग्रे वार्त्ताभिः कार्यं न चलिष्यति। सत्यं वदामि— यदि त्रि-चतुर-दिनेषु मह्यं सुवर्ण-हारः न निर्मापयिष्यते, तर्हि सदार्थम् अन्न-जलं त्यक्ष्यामि, उत कूपे निपत्य आत्म-हत्यां करिष्यामि।

मनोहरः— राम! राम!! आत्म-हत्या? न, न। जानासि? अस्य फलं किं भविष्यति? महा-रौरव-नरके निपातः!

पद्मा – सह एव भवतः अपि!

मनोहरः— मम कथम्?

पद्मा— यतः भवान् मे अर्द्धाङ्गभूतः। भवता यत् पापं पुण्यम् अर्ज्यते, तस्य अर्द्धाङ्गिनीत्वात् यदा अहं भागिनी भवामि, तदा मद्-उपार्जित-पाप-पुण्ययोः किं भवान् भागी न भविता?

मनोहरः— (भयं नाटयन्) नैव भामिनि! यदि एवं, न अनशनं न च आत्म-हत्यां कुरु। श्वः एव त्वद्-अर्थं धनम् अर्जयितुं विदेशं गमिष्यामि।

पद्मा— (स-शङ्कम्) सत्यं वदति भवान्, उत वार्ताभिः एव टालनं क्रियते? कथं विश्वसेयम्?

मनोहरः— किं पत्युः अपि न विश्वासः? तुभ्यं सत्यं शपे प्रिये! गच्छ, स्वपिहि। प्रातः शीघ्रं मां जागरय। अवश्यं यास्यामि।

(पद्मा प्रसन्ना-वदना शयनाय निर्गच्छति)

द्वितीय-दृश्यम्

(स्थानम्— वन-प्रदेशः। समयः— सायं सप्त-वादनम्)

मनोहरः— अहो! सर्वं दिवा चलतः मे मार्गे कतिपय-मार्गाः निःसृताः। किन्तु पुनर् अपि न गन्तव्य-स्थानं प्राप्नोमि। रात्रिः अपि इयं कृष्ण-पक्षीया। सर्वतः वन्याः जन्तवः क्रोशन्ति। अयं मार्गः जन-सञ्चार-शून्यः सञ्जातः। कथम् आत्मानं रक्षितुं शक्नुयाम्? किं करोमि? क्व गच्छामि? परमात्मन्! त्वम् एव असि मे साम्प्रतं रक्षकः। त्वाम् आश्रित्य एव अस्य वट-वृक्षस्य अधस्तात् वासं कल्पयामि, रात्रिं च यापयामि। प्रभो! रक्ष मां रक्ष।

(सम्मुखं वट-वृक्षम् उपसर्पति, वस्त्राणि उत्तार्य सः यावत् तद्-अधः उपवेष्टुम् उपक्रमते, तावत् तस्मात् एकः विकरालाकृतिः ऊर्ध्व-केशः लम्ब-दन्तः दानवः हस्तौ प्रसार्य मनोहरस्य पुरतः समुपतिष्ठते)

दानवः— अहो ! अद्य अस्ति मे बहु-दिनानन्तरं भाग्योदयः । भोः महापुरुष ! भव सावधानः । स्मरणं कुरु स्वेष्ट-देवतायाः । अद्य त्वं परम-कारुणिकेन परमात्मना मद्-भोजनार्थं प्रेषितः असि । न कश्चित् अपि त्वां साम्प्रतं रक्षितुं समर्थः । सज्जः भव (मनोहरं निग्रहीतुम् उद्यतः भवति)

मनोहरः— (बिभ्यत् अपि परमात्मानं स्मरन् साहसम् एकत्रीकृत्य) अरे मन्दभाग्य ! तिष्ठ तिष्ठ । त्वत्-कथनं त्वाम् एव अनुसरति । मार्गे चलतः मे हस्त-पाशे पतितः असि । त्वादृशाः दानवाः, न जाने, कियन्तः मया निगृह्य स्व-पेटिकायां बन्दीकृताः ! (झटिति क्षौर-पेटिकातः दर्पणं निःसार्य तं दर्शयति) पश्य, अयं वर्तते अत्र एकः त्वादृशः एव हत-भाग्यः दानवः ।

दानवः— (स्व-प्रतिबिम्बं विलोक्य मनोहरस्य कथनं सर्वं सत्यं मन्वानः स्व-गतं) हा हतः अस्मि । क्व मया द्रव्याशया सर्प-बिले हस्तः निक्षिप्तः ? साम्प्रतं रक्षोपायं करोमि । उक्तं च नीतिज्ञैः— **"आत्मानं सततं रक्षेत् दारैः अपि धनैः अपि"** (प्रकाशम् अञ्जलिं बद्ध्वा मनोहरम्) अयि महाभाग ! त्वं कारुणिकः असि । क्षमस्व मे मूर्खस्य अपराधम् । इयत् दयस्व । मुञ्चस्व मां कृपया । आजन्म ते ऋणी स्थास्यामि । प्रत्युपकारं यथा-शक्ति ते कर्तुं प्रतिजाने ।

मनोहरः— (स्वस्य विजये मनसि हर्षम् अनुभवन्) नहि रे वञ्चक ! त्वं मिथ्या वदसि । न मोक्ष्यामि त्वाम् । सत्यं जानीहि । इदानीं ते कालः एव आगतः (हस्तौ निगृह्णाति)

दानवः— (अतिदैन्यं दर्शयन्) न, न । दीन-दयालो ! दयतां दयताम् । सर्वं सत्यं वदामि । यथा आज्ञापयिष्यते, तथा करिष्यामि । कृपया मुञ्चतु माम् । पादयोः पतामि (पतति)

मनोहरः— त्वादृश-तामस-प्रकृतीनां कः विश्वासः ? सत्यां कार्य-पूर्तौ पूर्वां प्रतिज्ञां विस्मरन्ति सर्वे ।

दानवः— (स-विनयम्) नहि नहि महाराज ! न अहं तादृशः दानवः । ईश्वराय शपे । अत्र अणुमात्रम् अपि वञ्चनाशयः न अस्ति । सत्यं कथयामि । अहं भवतः वशंवदः । आज्ञापयतु मां भवान् ।

मनोहरः— यदि एवम् । गच्छ । आनय शीघ्रं कोटि-द्वय-सुवर्णमुद्राः सहस्र-द्वय-रत्न-जटित-हारान् च । अहम् अत्र एव प्रतीक्षां करोमि ।

(प्रसन्न-मुद्रः दानवः ततः प्रतिष्ठते, दश-पञ्चदश-क्षणेषु एव च यथोक्त-मुद्राः हार-सहिताः आदाय मनोहरस्य पुरतः उपतिष्ठति)

दानवः— गृह्यन्तां महाराज ! सेवायाम् अर्प्यन्ते । अनुगृह्णातु (हस्तयोः समर्पयति)

मनोहरः— (मनसि परम-प्रसन्नः) धन्यः असि । इदानीम् इयत् अन्यत् कुरुष्व । रात्रिः सञ्जाता । गृहं दूरे वर्तते । स्व-स्कन्धयोः मां समुपवेश्य मम गृहे प्रापय ।

दानवः— यद् आज्ञापयति महाराजः (स्कन्धयोः मनोहरम् आरोप्य परिवहन् तस्य गृह-द्वारि उत्तारयति, अन्याम् आज्ञां च प्रतीक्षमाणः साञ्जलिः तस्य पुरः तिष्ठति)

मनोहरः— बाढम् । गम्यतां स्व-स्थाने । किन्तु इयत् अवश्यं स्मरणीयम् । यदा अहं त्वां स्मरामि, तत्कालं मे सेवायाम् उपस्थातव्यम्, अन्यथा यत्र अपि त्वं भविष्यसि, आगत्य निग्रहीष्यामि ।

दानवः— यद् आज्ञापयति स्वामी (प्रणम्य निर्गच्छति)

तृतीय-दृश्यम्

(मनोहरः अपि स-मुद्रान् हारान् आदाय गृहान्तः प्रविशति, स्वपन्तीं पत्नीं च सम्बोधयन्—)

मनोहरः— अयि महाभागे ! किं साम्प्रतम् अपि स्वप्स्यसि एव ? उत्तिष्ठ । सम्भालय त्वदीयम् एतद् धनम् ।

पद्मा— (जागृत्वा स्वप्नम् इव पश्यन्ती आश्चर्येण) हुम्, एतत् किम् ? हुम् एतत् किम् ?

मनोहरः— अरे ! द्रव्य-राशि-दर्शनेन एव प्रमत्ता सञ्जाता किम् ? तदा एव तु मया कथितम् आसीत्—

'अर्थोऽनर्थं जनयति नित्यम्.....स्तेयं हिंसाऽनृतम्.....'

(इत्यादि पठति)

पद्मा— नहि नहि। मुखं प्रक्षाल्य आगच्छामि तावत्। तिष्ठतु। (गच्छति, द्वित्र-क्षणेषु च प्रत्यागत्य) इदानीं वदतु। कुतः इयद् धनं सकृत् एव प्राप्तम् ?

मनोहरः—प्रिये ! आम्रफलार्थिनः किं तरु-गणनया ? धनेन ते प्रयोजनम् आसीत्। आनीतं तत्। उपभोगं कुरु। अलम् अधिक-पृच्छया।

पद्मा— नहि नहि। यावत् न सर्वं भवान् वदिष्यति, तावत् न मे शान्तिः भविष्यति। झटिति स्पष्टं करोतु।

मनोहरः— अलम्। जानीहि। त्वद्-अर्थं कुबेरं विजित्य एव तस्य कोषात् आनीतं मया।

पद्मा— भवता तु उपहस्य टाल्यते। न सर्वं सत्यं सत्यं कथ्यते।

मनोहरः— सर्वं श्वः प्रातः वक्ष्यामि स-विस्तरम्। गच्छ। स्वपिहि साम्प्रतम्। अहम् अपि स्वपिमि। युद्धेन महान् परिश्रान्तः अस्मि (पद्मा शयनाय निर्गच्छति। मनोहरः अपि एक-खटवाम् उपसृत्य स्व-विजये गर्वमाणः तत्र स्वपिति)

चतुर्थ-दृश्यम्

(स्थानम्— वन-प्रदेशः। समयः— रात्रिः। दानवः स्व-दशां मातुलं श्रावयन् आस्ते—)

दानवः— भोः मातुल ! त्वं तु सदा कथयसि स्म यत् अस्माकं जातिः एव सर्वतः बलवत्तरा। किन्तु अद्य तु मया ततः अपि बलिष्ठः एकः महापुरुषः दृष्टः। दृष्टः एव किम् ? अहं तु तस्य हस्त-पाशे एव निपतितः। सत्यं वदामि। यदि न मया तस्य कथनानुसारम् आचरिष्यत, तर्हि अवश्यम् एव तत्क्षणे अन्य-दानवैः सह मया अपि तस्य पेटिकायां वन्दिना भूत्वा असह्य-पीडा अनुभूता अभविष्यत्। इदानीं तु यथाकथञ्चित् तं सन्तोष्य प्रत्यागतः अस्मि। यदा सः मां स्मरिष्यति, पुनः तस्य समीपे गन्तव्यं भविष्यति। अन्यथा अत्र आगत्य निगृह्य मां सः वन्दिनं करिष्यति।

मातुलः— अरे मूर्ख ! कीदृशः सः पुरुषः अस्ति ? कथं त्वं तं सन्तोषितवान् ?

दानवः— पुरुषः तु वर्त्तते एव सः, किन्तु महाशक्ति-शाली अपि अस्ति। तस्य समीपे आसीत् एका पेटिका। कोटिद्वय-सुवर्ण-मुद्राः सहस्र-द्वय-रत्नजटित-हारान् च प्रदाय सन्तोषितवान् अस्मि। स्व-स्कन्धयोः समारोप्य तं तद्-गृहे प्रापय्य आगच्छन् अस्मि।

मातुलः— अरे कूप-मण्डूक! त्वं तु तेन वञ्चितः असि। अवश्यं सः क्वचित् नापितः वर्तते, यतः नापिताः एव नरेषु धूर्त्ताः भवन्ति। चल, दर्शय मां तद्-गृहम्। त्वदीयं धनं ते दापयामि। न सन्ति केचन अस्माकं जाति-बान्धवेभ्यः बल-शालिनः।

दानवः— न मातुल! न, अहं न गमिष्यामि तस्य सम्मुखे। तस्याः आकृत्याः स्मरण-मात्रेण एव रोमाञ्चः भवति मे।

मातुलः— (उत्थापयन्) अरे चल उत्तिष्ठ नपुंसक! चलिष्यसि अपि न वा? मा भव तस्य पुरः। मां तु दर्शय। अहम् एकलः एव सर्वं साधयिष्यामि।

दानवः— बाढं तात! चलामि पुनः यमराज-गृहे, चल (भयातुरतां प्रकाशयन् अनिच्छया स-शैथिल्यं प्रतिष्ठते)

दानवः— (मनोहरस्य गृह-द्वारम् उपगत्य) इदम् अस्ति गृहं मातुल! प्रविश त्वम्। अहं तु अत्र एव बहिर् निगूढः तिष्ठामि।

(मातुलः गृह-कपाटं पिहितं दृष्ट्वा गृहस्य पृष्ठभागीय-वातायन-मार्गेण अन्तः प्रविशति, तादृशं वीक्ष्य जल-पानार्थम् उत्थितः मनोहरः पार्श्वे निहितान् पञ्च-षान् दर्पणान् सत्वरं नव-दानवं दर्शयन्—)

मनोहरः— (गर्जित्वा) आगम्यताम्, आगम्यताम्। त्वाम् अपि इत्थं पेटिकायां वन्दीकरोमि।

मातुलः— (दर्पणेषु स्वीयां पृथक् पृथक् विकटाम् आकृतिम् अवलोक्य सभयम्) नहि नहि सौम्य! न पुनः आगमिष्यामि। क्षन्तव्यः मे प्रथमापराधः। अन्यत् यद् भवान् आज्ञापयिष्यति, तत् सर्वं करिष्यामि।

मनोहरः— तर्हि गम्यताम् इतः झटिति। प्रतिदिनं प्रातः शत-शत-मुद्राः आनीय समर्पणीयाः मह्यम्। प्रातः सायम् अस्माकं भोजनं पचनीयम्। दिने क्षेत्राणि सेक्तव्यानि।

मातुलः— (मनसि खेदम् अनुभवन्) यद् आज्ञापयति देवः ।

(सत्वरं ततः पलायते, तादृशं पलायमानं दृष्ट्वा)

दानवः— अरे मातुल ! मातुल !! किं सञ्जातम् ? कथम् इत्थं द्रुत-गत्या पलायसे ? तिष्ठ तिष्ठ ।

मातुलः— न किम् अपि प्रष्टव्यं साम्प्रतम् । आयाहि शीघ्रं शीघ्रं त्वम् अपि मम पृष्ठे । गृहे सर्वं वदिष्यामि ।

(दानवः मातुलस्य पृष्ठे पृष्ठे द्रुतं धावति)

(शनैः शनैः पटाक्षेपः)

ताडन-भय

कथा-वस्तु— आठ दृश्यों वाले इस रूपक के **प्रथम-दृश्य में**— एक उपवन में स्नान करने के लिये गयी हुई काशी नरेश की महारानी के सुवर्णहार को हाथ में रख कर दासी एक वृक्ष के नीचे छाया में सो जाती है। सोयी हुई उसके हाथ से छूटे हुए हार को वृक्ष से उतर कर एक वानरी उठा ले जाती है और वृक्ष के कोटर में रख देती है। जगने पर दासी हार को न देख कर भय-भीत बनी हुई जोर जोर से 'चोर चोर' इस प्रकार चिल्लाती है जिससे राजपुरुष वहाँ उपस्थित हो जाते हैं और दासी से सब वृत्तान्त जान कर वे चोर को ढूँढने के लिये बाहर निकल पडते हैं। वे उपवन के बाहर तेजी से जाते हुए एक कृषक को चोर समझ कर पकड़ लेते हैं, डरे हुए उसको पीटने भी लग जाते हैं। ताडना से पीडित वह कृषक चोर न होता हुआ भी हार-हरण की बात स्वीकार कर लेता है। किन्तु मैंने उसे राज-कोषाध्यक्ष को सौंप दिया है— यह बात भी साथ ही कह देता है। राजपुरुष उसको राजा के पास ले जाते हैं। **द्वितीय-दृश्य में**— कृषक वही बात राजा को भी निवेदित करता है। तब राजा से पूछने पर कोषाध्यक्ष भी दण्ड के भय से हार-ग्रहण की बात अङ्गीकार कर लेता है और कहता है कि वह हार मैंने राज-पण्डित को दक्षिणा में दे दिया है। **तृतीय-दृश्य में**— पण्डित अपने पूजा-गृह में पूजा में निरत है। पत्नी उसको राजा के सन्देश-हारक के आने की सूचना देती है। पण्डित राज-सन्देश पा कर राजा का दर्शन करने चल पडता है। **चतुर्थ-दृश्य में**— राजा से पूछने पर पण्डित राज-दण्ड के भय से हार-ग्रहण करना स्वीकार कर लेता है और हार को मैंने संगीतज्ञ को दिया है— यह भी सूचित करता है। फिर बुलाया हुआ संगीतज्ञ भी हार-ग्रहण की बात मान लेता है और कहता है कि मैंने वह हार नगर की सु-विख्यात नर्त्तकी को सौंपा है। बुलाने पर नर्त्तकी भी दण्ड के भय से वैसा ही स्वीकार करती है। उससे रुष्ट हो कर राजा उन सभी को कारागार-वास की सजा देने के लिये मन्त्री को निर्देश दे कर सभा-विसर्जन कर देता है। राजा के चले जाने पर मन्त्री एक पत्र लिख कर प्रतीहारी के हाथ उन सब को कारागार के अधीक्षक के पास भेजता है। **पञ्चम-दृश्य में**— कारागार में बन्द राजपण्डित, कोषाध्यक्ष, सङ्गीतज्ञ और नर्त्तकी रात के समय परस्पर एक दूसरे पर दोषारोपण कर रहे हैं कि तुमने मुझे हार कब दिया था? परन्तु 'यह हम सब की गोष्ठी कैसे सम्पन्न होती? यदि हार देने की बात नहीं कही जाती'

पद्मा— नहि नहि। मुखं प्रक्षाल्य आगच्छामि तावत्। तिष्ठतु। (गच्छति, द्वित्र-क्षणेषु च प्रत्यागत्य) इदानीं वदतु। कुतः इयद् धनं सकृत् एव प्राप्तम् ?

मनोहरः—प्रिये ! आम्रफलार्थिनः किं तरु-गणनया ? धनेन ते प्रयोजनम् आसीत्। आनीतं तत्। उपभोगं कुरु। अलम् अधिक-पृच्छया।

पद्मा— नहि नहि। यावत् न सर्वं भवान् वदिष्यति, तावत् न मे शान्तिः भविष्यति। झटिति स्पष्टं करोतु।

मनोहरः— अलम्। जानीहि। त्वद्-अर्थं कुबेरं विजित्य एव तस्य कोषात् आनीतं मया।

पद्मा— भवता तु उपहस्य टाल्यते। न सर्वं सत्यं सत्यं कथ्यते।

मनोहरः— सर्वं श्वः प्रातः वक्ष्यामि स-विस्तरम्। गच्छ। स्वपिहि साम्प्रतम्। अहम् अपि स्वपिमि। युद्धेन महान् परिश्रान्तः अस्मि (पद्मा शयनाय निर्गच्छति। मनोहरः अपि एक-खटवाम् उपसृत्य स्व-विजये गर्वमाणः तत्र स्वपिति)

चतुर्थ-दृश्यम्

(स्थानम्— वन-प्रदेशः। समयः— रात्रिः। दानवः स्व-दशां मातुलं श्रावयन् आस्ते—)

दानवः— भोः मातुल ! त्वं तु सदा कथयसि स्म यत् अस्माकं जातिः एव सर्वतः बलवत्तरा। किन्तु अद्य तु मया ततः अपि बलिष्ठः एकः महापुरुषः दृष्टः। दृष्टः एव किम् ? अहं तु तस्य हस्त-पाशे एव निपतितः। सत्यं वदामि। यदि न मया तस्य कथनानुसारम् आचरिष्यत, तर्हि अवश्यम् एव तत्क्षणे अन्य-दानवैः सह मया अपि तस्य पेटिकायां वन्दिना भूत्वा असह्य-पीडा अनुभूता अभविष्यत्। इदानीं तु यथाकथञ्चित् तं सन्तोष्य प्रत्यागतः अस्मि। यदा सः मां स्मरिष्यति, पुनः तस्य समीपे गन्तव्यं भविष्यति। अन्यथा अत्र आगत्य निगृह्य मां सः वन्दिनं करिष्यति।

मातुलः— अरे मूर्ख ! कीदृशः सः पुरुषः अस्ति ? कथं त्वं तं सन्तोषितवान् ?

दानवः— पुरुषः तु वर्त्तते एव सः, किन्तु महाशक्ति-शाली अपि अस्ति। तस्य समीपे आसीत् एका पेटिका। कोटिद्वय-सुवर्ण-मुद्राः सहस्र-द्वय-रत्नजटित-हारान् च प्रदाय सन्तोषितवान् अस्मि। स्व-स्कन्धयोः समारोप्य तं तद्-गृहे प्रापय्य आगच्छन् अस्मि।

मातुलः— अरे कूप-मण्डूक! त्वं तु तेन वञ्चितः असि। अवश्यं सः क्वचित् नापितः वर्तते, यतः नापिताः एव नरेषु धूर्त्ताः भवन्ति। चल, दर्शय मां तद्-गृहम्। त्वदीयं धनं ते दापयामि। न सन्ति केचन अस्माकं जाति-बान्धवेभ्यः बल-शालिनः।

दानवः— न मातुल! न, अहं न गमिष्यामि तस्य सम्मुखे। तस्याः आकृत्याः स्मरण-मात्रेण एव रोमाञ्चः भवति मे।

मातुलः— (उत्थापयन्) अरे चल उत्तिष्ठ नपुंसक! चलिष्यसि अपि न वा? मा भव तस्य पुरः। मां तु दर्शय। अहम् एकलः एव सर्वं साधयिष्यामि।

दानवः— बाढं तात! चलामि पुनः यमराज-गृहे, चल (भयातुरतां प्रकाशयन् अनिच्छया स-शैथिल्यं प्रतिष्ठते)

दानवः— (मनोहरस्य गृह-द्वारम् उपगत्य) इदम् अस्ति गृहं मातुल! प्रविश त्वम्। अहं तु अत्र एव बहिर् निगूढः तिष्ठामि।

(मातुलः गृह-कपाटं पिहितं दृष्ट्वा गृहस्य पृष्ठभागीय-वातायन-मार्गेण अन्तः प्रविशति, तादृशं वीक्ष्य जल-पानार्थम् उत्थितः मनोहरः पार्श्वे निहितान् पञ्च-षान् दर्पणान् सत्वरं नव-दानवं दर्शयन्—)

मनोहरः— (गर्जित्वा) आगम्यताम्, आगम्यताम्। त्वाम् अपि इत्थं पेटिकायां वन्दीकरोमि।

मातुलः— (दर्पणेषु स्वीयां पृथक् पृथक् विकटाम् आकृतिम् अवलोक्य सभयम्) नहि नहि सौम्य! न पुनः आगमिष्यामि। क्षन्तव्यः मे प्रथमापराधः। अन्यत् यद् भवान् आज्ञापयिष्यति, तत् सर्वं करिष्यामि।

मनोहरः— तर्हि गम्यताम् इतः झटिति। प्रतिदिनं प्रातः शत-शत-मुद्राः आनीय समर्पणीयाः मह्यम्। प्रातः सायम् अस्माकं भोजनं पचनीयम्। दिने क्षेत्राणि सेक्तव्यानि।

मातुलः— (मनसि खेदम् अनुभवन्) यद् आज्ञापयति देवः ।

(सत्वरं ततः पलायते, तादृशं पलायमानं दृष्ट्वा)

दानवः— अरे मातुल ! मातुल !! किं सञ्जातम् ? कथम् इत्थं द्रुत-गत्या पलायसे ? तिष्ठ तिष्ठ ।

मातुलः— न किम् अपि प्रष्टव्यं साम्प्रतम् । आयाहि शीघ्रं शीघ्रं त्वम् अपि मम पृष्ठे । गृहे सर्वं वदिष्यामि ।

(दानवः मातुलस्य पृष्ठे पृष्ठे द्रुतं धावति)

(शनैः शनैः पटाक्षेपः)

ताडन-भय

कथा-वस्तु— आठ दृश्यों वाले इस रूपक के **प्रथम-दृश्य में**— एक उपवन में स्नान करने के लिये गयी हुई काशी नरेश की महारानी के सुवर्णहार को हाथ में रख कर दासी एक वृक्ष के नीचे छाया में सो जाती है। सोयी हुई उसके हाथ से छूटे हुए हार को वृक्ष से उतर कर एक वानरी उठा ले जाती है और वृक्ष के कोटर में रख देती है। जगने पर दासी हार को न देख कर भय-भीत बनी हुई जोर जोर से 'चोर चोर' इस प्रकार चिल्लाती है जिससे राजपुरुष वहाँ उपस्थित हो जाते हैं और दासी से सब वृत्तान्त जान कर वे चोर को ढूँढने के लिये बाहर निकल पडते हैं। वे उपवन के बाहर तेजी से जाते हुए एक कृषक को चोर समझ कर पकड़ लेते हैं, डरे हुए उसको पीटने भी लग जाते हैं। ताडना से पीडित वह कृषक चोर न होता हुआ भी हार-हरण की बात स्वीकार कर लेता है। किन्तु मैंने उसे राज-कोषाध्यक्ष को सौंप दिया है— यह बात भी साथ ही कह देता है। राजपुरुष उसको राजा के पास ले जाते हैं। **द्वितीय-दृश्य में**— कृषक वही बात राजा को भी निवेदित करता है। तब राजा से पूछने पर कोषाध्यक्ष भी दण्ड के भय से हार-ग्रहण की बात अङ्गीकार कर लेता है और कहता है कि वह हार मैंने राज-पण्डित को दक्षिणा में दे दिया है। **तृतीय-दृश्य में**— पण्डित अपने पूजा-गृह में पूजा में निरत है। पत्नी उसको राजा के सन्देश-हारक के आने की सूचना देती है। पण्डित राज-सन्देश पा कर राजा का दर्शन करने चल पडता है। **चतुर्थ-दृश्य में**— राजा से पूछने पर पण्डित राज-दण्ड के भय से हार-ग्रहण करना स्वीकार कर लेता है और हार को मैंने संगीतज्ञ को दिया है— यह भी सूचित करता है। फिर बुलाया हुआ संगीतज्ञ भी हार-ग्रहण की बात मान लेता है और कहता है कि मैंने वह हार नगर की सु-विख्यात नर्त्तकी को सौंपा है। बुलाने पर नर्त्तकी भी दण्ड के भय से वैसा ही स्वीकार करती है। उससे रुष्ट हो कर राजा उन सभी को कारागार-वास की सजा देने के लिये मन्त्री को निर्देश दे कर सभा-विसर्जन कर देता है। राजा के चले जाने पर मन्त्री एक पत्र लिख कर प्रतीहारी के हाथ उन सब को कारागार के अधीक्षक के पास भेजता है। **पञ्चम-दृश्य में**— कारागार में बन्द राजपण्डित, कोषाध्यक्ष, सङ्गीतज्ञ और नर्त्तकी रात के समय परस्पर एक दूसरे पर दोषारोपण कर रहे हैं कि तुमने मुझे हार कब दिया था? परन्तु 'यह हम सब की गोष्ठी कैसे सम्पन्न होती? यदि हार देने की बात नहीं कही जाती'

ऐसा सभी उत्तर देते हैं। गोष्ठी चलती रहती है। **षष्ठ-दृश्य में** — कारागार में डाले हुए कोषाध्यक्ष आदि की बात प्रतीहारी से जान कर मन्त्री जीव-सङ्ग्रहाध्यक्ष के पास प्रतीहारी के द्वारा सन्देश भेजता है कि 'सङ्ग्रहालय में पाले हुए प्रत्येक वानर को चाँदी का हार पहिना कर स्वच्छन्द विचरण करने के लिये उपवन में छोड़ दो और उन में जो कोई नवागन्तुक सोने का हार पहिना हुआ वानर दिखायी पडे उसका हार ला कर मुझे संभला दो।' **सप्तम-दृश्य में** — मन्त्री के निर्देशानुसार जीव-सङ्ग्रहालयाध्यक्ष सभी वानरों को चाँदी का हार पहिना कर उपवन में विचरण-हेतु छुडवा देता है। उन वानरों को हार पहिने हुए देख कर रानी के सोने के हार को चुराने वाली वानरी भी अपने पेड़ के खोखले में से हार निकाल कर पहिन लेती है और वानरों में आ कर मिल जाती है। उसको उस प्रकार की अवस्था में देख कर जीव-सङ्ग्रहालयाध्यक्ष के सहयोगी वानरी को पकड़ कर और उसका हार उतार कर सङ्ग्रहालयाध्यक्ष को ला कर सौंप देते हैं। तदनन्तर सभी वानरों और उस वानरी को ले कर वे राजमहल चले आते हैं। **अष्टम-दृश्य में**— मन्त्री राजा को सुवर्ण-हार मिल जाने की बात सुना कर हार दे देता है और यह वानरी से मिला है यह बात भी बता देता है। फिर राजा से पूछे जाने पर मन्त्री आदि से अन्त तक सारी घटना सुना देता है। तब राजा निरपराध कोषाध्यक्ष आदि सभी को सम्मान के साथ कारागार से छोडने के लिये मन्त्री को आदेश देता है। पूछने पर वे सभी दण्ड-भय से हार-ग्रहण करने की बात राजा को बताते हैं। बुलाया हुआ कृषक भी वैसा ही उत्तर देता है। उससे राजा राजपुरुषों को सङ्केत करने की आज्ञा देता है कि कभी किसी की इतनी ताडना न की जाय कि जिससे वह असत्य को भी सत्य के रूप में स्वीकार कर ले। असत्य को सत्य बनाने में अनर्थ की बहुत बड़ी सम्भावना रहती है। मन्त्री के द्वारा वैसा स्वीकार किये जाने पर राज-सभा का विसर्जन हो जाता है और सभी सभा-भवन से निर्गमन कर जाते हैं।

चरित्र-चित्रण— **दासी** ही सब घटना की मूल है। उसी के कारण निरपराध भी **कृषक** राजपुरुषों से अधिक प्रताडित हो कर हार-ग्रहण की बात स्वीकार कर लेता है। किन्तु वह कृषक बुद्धिमान् है, कोषाध्यक्ष को हार देने की बात कह कर वह अपने आप को छुडवा लेता है और अन्त में राजा से पूछे जाने पर सही सही बात कह देता है। **कोषाध्यक्ष, राजपण्डित और सङ्गीतज्ञ** भी राज-दण्ड से डरते हैं। इसी लिये वे सब भी असत्य को सत्य के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। **राजा** तो तब तक विराम नहीं लेता है, जब तक वह यथार्थ को जान नहीं लेता है। ताडना से असत्य भी सत्य में परिणत हो कर महान् अनर्थ उत्पन्न कर बैठता है—

ऐसा वह मानता है। मन्त्री तो अत्यन्त बुद्धिमान् है। उसी की युक्ति से हार हस्त-गत होता है और निरपराध सभी व्यक्ति कारागार से छूट जाते हैं।

उद्देश्य— यथार्थ ज्ञान के विना कार्य करने से सदा हानि ही उत्पन्न होती है। राज-दण्ड का भय जहाँ व्यवस्था को नियमित बनाये रखता है— वहाँ असत्य को भी सत्य में परिणत कर के कभी कभी महान् अनर्थ कर बैठता है। ताडना का दण्ड आवश्यक है। किन्तु वह इतना नहीं होना चाहिये कि जिससे बचने के लिये निरपराध व्यक्ति भी अपराध करना स्वीकार कर ले। इस प्रकार असत्य अपराध ही अनर्थ-परम्परा का मूल बन जाता है। व्यक्ति को सदा बुद्धिमान् रहना चाहिये। बुद्धि से यथार्थ और अयथार्थ के बीच यथार्थ को अलग कर के वह बिगडी बात सुधार लेता है जैसा कि इस रूपक में मन्त्री ने बुद्धिबल से कार्य कर के सभी को कारागार से छुडवा दिया और खोया हुआ हार भी प्राप्त कर लिया।

पात्र-परिचय

दासी—	राजा ब्रह्मदत्त की पत्नी महारानी की दासी।
राजपुरुष—	उपवन में उपस्थित होने वाले और कृषक को पीटने वाले लोग।
राजा—	काशीनरेश ब्रह्मदत्त।
कोषाध्यक्ष—	ब्रह्मदत्त का
राजपण्डित—	,,
सङ्गीतज्ञ—	,,
नर्त्तकी—	नगर-विख्यात नर्त्तकी।
मन्त्री—	ब्रह्मदत्त का बुद्धिमान् मन्त्री।
जीव-संग्रहालयाध्यक्ष—	ब्रह्मदत्त का कर्मचारी और उपवन में वानरों को ले जाने वाला।
प्रतीहारी—	राज-द्वारपालक।
पत्नी—	राज-पण्डित की।

ताडन-भयम्

प्रथम-दृश्यम्

(काश्यां राज-प्रासादस्य पृष्ठ-भागे उपवने जलाशयात् अनतिदूरे शिलायाम् एकस्यां राज्ञः ब्रह्मदत्तस्य महाराज्ञ्याः दासी किञ्चित् चिन्तयन्ती इव उपविष्टा विषण्ण-वदना दृष्टिपथम् अवतरति—)

दासी— अरे स्वामिनी अपि कीदृशी ? स्नातुं गतायाः तस्याः कियान् कालः व्यतीतः ? न प्रत्यागच्छति ! अहं तु तस्याः इमं चन्द्रहारं रक्षन्ती श्रान्ता इव किल । पारतन्त्र्यम् अपि सदा कष्टकरम् । पुनश्च अयं ग्रीष्म-समये प्रातः-कालिकः शीतल-मन्द-सुगन्धः समीरः मां निद्रातुं विवशीकरोति एव । तद् अहं यावद् न समायाति स्वामिनी, निद्रा-सुखम् अनुभवामि एव । किमर्थं वृथा कष्टं देयम् अस्मै शरीराय ? यतः न इदं शरीरं पुनः पुनः प्राप्यते (हारं स्व-हस्त-गतं कृत्वा स्वपिति, किन्तु प्रगाढ-निद्रायाम् आगतायां तस्याः हस्तः हारात् अपसर्पति, प्राप्तावसरा एका वानरी आसन्न-वृक्षात् अवतरति, इतस्ततः सम्यक् निरीक्षमाणा हारं गृहीत्वा सत्वरं वृक्षम् आरुह्य झटिति हारं वृक्ष-कोटरे गोपायति । हर्षाविष्टा सा वानरी शाखासु कूर्दते शब्दायते च । पत्रावलेः 'मर्मर' इति, वानर्याः च 'कूं कूं' इति शब्दैः भग्न-निद्रा दासी पार्श्वे चन्द्रहारं न पश्यन्ती भय-भीता —) अरे हारः क्व गतः ? केन अयं चोरितः ? हा राम ! राज्ञी मां किं कथयिष्यति ? सत्यं सा माम् एव चौर्य-कारिणीं मन्वाना अवश्यं कारागारे पातयिष्यति । कारागार-नाम-श्रवणेन तु मे मातामही म्रियते एव ननु (भयं नाटयति) अरे भगवन् ! देहि मे तादृशीं बुद्धिं येन आत्म-रक्षणं कुर्याम् ! (किञ्चित्-कालं भगवत्-प्रार्थना-मुद्रां कृत्वा) आम्, इष्टः उपायः । एवं शब्दापयामि (उच्चैः उच्चैः आक्रोशति) चौरः ! चौरः !! निगृह्यताम्, निगृह्यताम् । हारम् अपहृत्य पलायते ! पलायते !!

(प्रासादस्थाः राज-पुरुषाः शब्दम् अनुसरन्तः दासीम् उपगत्य)

राजपुरुषाः— अयि सुशीले ! किं जातम् ? किं जातम् ?

दासी— (भयं नाटयन्ती वार्त्ता-मध्ये च किञ्चित् किञ्चित् विरमन्ती) जातं किम् ? अधुना एव मत्तः अत्र पूर्वं प्रविष्टः लुण्टाकः महाराज्ञ्याः हारम् आच्छिद्य पलायितः। महाराज्ञी स्नातुं जलाशयं गता अस्ति। त्वर्यतां त्वर्यतां, सम्प्रति एव सः दुष्टः अनेन मार्गेण प्रस्थितः।

(राज-पुरुषाः बहिर् आगत्य पथि सरन्तं पुरुषम् एकं पश्यन्ति, तम् एव चौरं मन्वानाः तम् अनुधावन्ति। कृषकः अपि राज-पुरुषेभ्यः भीतः द्रुतं द्रुतं धावति। कृषकं धावन्तं वीक्ष्य तम् एव चौरं निश्चित्य तेषु एकः यष्टिकया कृषकं पादे प्रहृत्य मन्द-गतिम् आपन्नं कृषकं प्रधाव्य निगृह्णाति। अन्ये अपि तं परितः तिष्ठन्ति)

राजपुरुषाः— कथय रे ! जाल्म !! हारं गृहीत्वा कुत्र पलाय्यते ?

कृषकः— (साश्चर्यम्) कीदृशः हारः ? दृष्टवान् अपि नैव तम्। ग्रहणस्य तु वार्त्ता सुदूरम्।

राजपुरुषाः— आम्, महान् अनभिज्ञः भवसि ! धूर्त्तः असि नु !! जानासि कस्य इदं राज्यम् ?

कृषकः— जानामि कथं न ? धर्मात्मा श्री श्री १०८ ब्रह्मदत्तः राजा राज्यं करोति अत्र। अस्य राज्ये प्रजा स-सुखं निवसति।

राजपुरुषाः— किन्तु कीदृशी प्रजा ? या सच्चारित्र्य-सम्पन्ना, राज्ञि च भक्तिमती तिष्ठति। त्वादृशेभ्यः समाज-कलङ्केभ्यः कीदृशी-दण्ड-व्यवस्था ? इति जानासि नु ? सत्यं सत्यं वद। कुत्र वर्त्तते हारः ?

कृषकः— ईश्वरं साक्षीकृत्य सर्वं सत्यं कथयामि। न विद्यते इह मृषा-लेशः अपि कश्चन।

राजपुरुषाः— अलम् अलं ते ईश्वर-शपथेन। दुष्टानां कृते पदे पदे शपथ-ग्रहणं साधारणी वार्त्ता। त्वम् एवं सत्यं न कथयिष्यसि नु ? स्थीयताम्, उपायः क्रियते (एक-वृक्षेण तं बद्ध्वा तेषु प्रधानः कृषकं ताडयितुं प्रवर्त्तते)

कृषकः— (वेदनया) हा राम ! अयं ग्राम्यः जनः हारस्य दर्शनम् अपि न कृतवान्। भवन्तः चौर्येण सन्दूष्य इमं निर्दयं ताडयन्ति। स्मरणीयम्, अत्र नैव तु परलोके परमात्मनः अग्रे अवश्यं न्यायः भविष्यति। ताड्यतां ताड्यतां, यथेच्छं ताड्यताम्। अहं सत्यं वदामि— 'न गृहीतः मया हारः' इति (किञ्चित्कालं ताडनां सोढ्वा स्वस्य च मुक्तिम् अमन्यमानः अधिक-ताडन-भिया 'यद्यपि हारः न गृहीतः, तथापि गृहीतः' इति स्वीकृति-मात्रेण मुक्तिं सम्भावयन्) आम् महाराज ! यद्यपि हारः न गृहीतः मया, तथापि

भवत्-कथनेन कथयामि हारः गृहीतः इति । मुच्यतां तावत् सम्प्रति अयं जनः ।

प्रधानः— (स-क्रोधम्) 'यद्यपि' इति किं भवति ? चोरितः त्वया, पुनः अस्मत्-कथनेन स्वीकरोषि ! किं वयं मिथ्या वदामः ? (ताडयति)

कृषकः— (आत्मनः कथम् अपि मुक्तिम् अदृष्ट्वा) साधु महाराज ! भवत्-कथनेन नैव, स्वयम् एव स्वीकरोमि— 'चोरितः मया' इति ।

(ताडनावरोधः सञ्जायते)

राजपुरुषाः— तर्हि कुत्र सः ? दीयतां तावत् ।

कृषकः— भवतां राज-कोषाध्यक्षस्य आज्ञया चोरितवान् हारम्, उपवन-द्वार-स्थिताय तस्मै एव च दत्तवान् तत्कालम् । अधुना न विद्यते मम समीपे हारः ।

राजपुरुषाः— अहो ! आश्चर्यम् । कदाचित् कोषाध्यक्षः अपि एवं कर्तुं शक्नोति ? न वर्तते इयं सम्भावना । किन्तु एषा विशेष-वार्त्ता न । वित्तं तु वैराग्यवताम् अपि चित्तं विचालयति । भवतु किम् अपि, राज्ञः अन्तिकम् एनम् एव नयामः । सः एव निर्णेष्यति (बन्धनात् विमुच्य निगृह्य तं नयन्ति, अग्रे पृष्ठे राज-पुरुषाः, मध्ये च कृषकः गच्छति)

द्वितीय-दृश्यम्

(रत्न-जटित-सिंहासने समासीनः काशी-नरेशः ब्रह्मदत्तः सभा-भवने विराजमानः दृग्गोचरः भवति । पार्श्वयोः त्रि-चतुराः मन्त्रि-सहिताः सभ्याः स्वासनेषु समुपविष्टाः सन्ति । कोषाध्यक्षः राज-सन्निधौ आय-व्यय-विवरणं प्रस्तोतुम् उत्तिष्ठति, तावत् सहसा—)

प्रतीहारी— (प्रविश्य साञ्जलिः) अन्न-दातः ! श्रीमद्-दर्शनाभिलाषुकाः केचन राज-पुरुषाः द्वारि संस्थिताः । तैः सह एकः ग्रामीणः अपराधी इव विद्यते ।

राजा— प्रवेशय तान् (कोषाध्यक्षं प्रति) इदं विवरणम् इदानीं तिष्ठतु तावद् अत्र एव । शेषांशः श्वः दर्शनीयः ।

(प्रतीहारी राजपुरुषान् आदाय आयाति निर्याति च)

राजपुरुषाः— (प्रणम्य) जयतु जयतु देवः । राजाधिराज महाराज ! अद्य जलाशयम् उपगतायाः महाराज्ञ्याः चन्द्रहारकं सुशीला-सकाशात् अपहृत्य पलायमानम् एनं निगृह्य श्रीमत्-सेवायाम् उपस्थिताः स्मः । अग्रे देवः प्रमाणम् ।

राजा— एवम् ! (कृषकम्) उच्यतां महाशय ! किं त्वदीयं नाम ? कुत्र ते निवासः ? किम् एषां कथनं सत्यम् ?

कृषकः— (स्व-गतम्) अत्र यदि राज-पुरुषाणाम् अग्रे स्वीकृतं न वदामि, सर्वं सत्यम् एव च वदामि, तर्हि अवश्यं ताडनं भवेत् मे । पूर्वम् एव ताडनेन शरीरं मे पीडितम् अस्ति । तद् अहं तद् एव कथयामि (प्रकटं साञ्जलिः) अन्न-दातः ! जनाः मां सत्यदेवं वदन्ति । अत्र एव नगरोपकण्ठं ग्रामे निवसामि । सत्यं मया हारः अपहृतः, परं न स्वस्य कृते । कोषाध्यक्षस्य आज्ञया अपहृत्य तस्मै एव दत्तवान् अस्मि ।

राजा— त्वां जनाः गुणानुरूपम् एव सत्यदेवं वदन्ति । निःसन्देहं त्वं सत्य-भाषी । परं प्रीतः अस्मि त्वयि सत्य-भाषणेन (कोषाध्यक्षं प्रति) कथ्यतां महोदय ! किम् एतद् भवतः कृत्यम् ? यस्यां शाखायां स्थीयते भवता, सा एव छिद्यते नु ? कस्मात् शुभ-मुहूर्तात् प्रारब्धम् इदं कार्यम् ?

कोषाध्यक्षः— (कृषकोक्त्या पूर्वम् एव आश्चर्येण विकृताकृतिः आसीत्, साम्प्रतं तु अनेन राज्ञः व्यङ्ग्येन भृशं विद्धः आत्म-गतम्) राजा तु अस्मिन् पूर्णं विश्वस्तः । एतद् एव मया अपि स्वीकर्त्तव्यम्, अन्यथा असत्य-भाषणापराधे विशिष्टा दण्ड-व्यवस्था स्यात् (प्रकटम्) भगवन् ! अस्य कृषकस्य कथनं सर्वथा सत्यम् । मम एव आदेशेन अयं हारम् अपहृतवान्, अहं च एतस्माद् आदाय राज-कुलस्य पूर्वजानाम् अपि प्रपूज्याय राज-पण्डिताय दक्षिणा-स्वरूपे समर्पितवान् ।

राजा— एवम् ! आहूयतां सः पण्डित-प्रकाण्डः । तस्मै हार-स्थाने यथेच्छं द्रव्यं दास्यते (पार्श्व-स्थं सेवकम्) सेवकराम ! गम्यताम् । मद्-वचनात् पण्डित-राजः वाच्यः यत् भवन्तं महाराजः द्रष्टुम् इच्छति इति ।

सेवकरामः— यद् आज्ञापयति महाराजः (प्रणम्य निर्गच्छति)

तृतीय-दृश्यम्

(सर्व-सामग्री-विभूषिते देव-गृहे ह्रस्व-शरीरः लम्बोदरः दीर्घ-शिखः चन्दन-चर्चित-भालः रुद्राक्ष-विभूषित-कण्ठः धृतोत्तरीयः राज-पण्डितः एकाग्र-चेतसा देवतायाः आर्त्तिक्यं कुर्वन् दृष्टि-पथम् आयाति—)

पण्डितः— नूपुर-रव - मुखरीकृत - गर्वित - हंसरणे !
अच्युत-विरिञ्चि-चूडामणि-चर्चित-चरणे !
जय देवि जगदम्ब !

शव-कर-कृत-मेखलया शोभित-कटि-तटके !
त्रिभुवन-चित्र-चरित्रे विरचित-दिक्पटके !
जय देवि जगदम्ब !

काश्मीरागरु-चन्दन - चर्चित - शुभ-भाले !
कल्पित - कपालमालाऽऽलङ्कृत-गल-नाले !
जय देवि जगदम्ब !

अधरीकृत - बिम्बाधर - जित-विद्रुम-दम्भे !
पीन - घन - स्तन-तर्जित-गर्जित-गज-कुम्भे !
जय देवि जगदम्ब !

अयि दीने मयि मार्तनिज-शङ्कर-दासे !
कुरु करुणामय - लोचन - भक्तिजनोल्लासे !
जय देवि जगदम्ब !

(आरार्त्तिकं कृत्वा साष्टाङ्गं प्रणिपत्य यावत् उत्तिष्ठति, तावत् तदीया)

पत्नी— (प्रविश्य) स्वामिन् ! राजप्रासादाद् एकः सन्देशवाहकः दूतः समायातः । आर्य-चरणं द्रष्टुम् इच्छति ।

पण्डितः— एवम् ! उपवेश्यताम् असौ प्रतीक्षालये । आयामि अहम् (पत्न्यां निर्गतायां पूजां समाप्य बहिर् आगत्य दूतं प्रति) कथ्यतां महाशय ! कः समाचारः ? अपि कुशलं भूपतेः ?

दूतः— अथ किम् ? सर्वं कुशलम् । देवः द्रष्टुम् इच्छति महाराजम् ।

पण्डितः— किं कारणम् ? अपि काचन विशेष-वार्त्ता ?

दूतः— (असामर्थ्यं प्रकटयन्) कारणं न जाने । शीघ्रं मिलतु महाराजः इदम् एव सन्देष्टुम् आज्ञप्तः अस्मि ।

पण्डितः— अस्तु, निवेद्यताम्— इदानीम् एव आयामि (प्रणम्य निर्गते दूते अन्तः प्रविश्य पत्नीम्) प्रिये ! यद्यपि सुस्पष्टं न उक्तं सन्देश-वाहकेन, तथापि राज्ञः मया निमन्त्रण-दानातिरिक्तं किम् अन्यत् प्रयोजनं भवितुम् अर्हति ? शुभं प्रातः । अद्य तु राज-भवने सुस्वाद्यानि खाद्य-पेयानि प्राप्स्यन्ते । कतिपय-दिनोत्तरम् अयम् अवसरः आयातः । अद्य भोजनं मम कृते न सम्पादनीयम् ।

(ततः बहिर् आगत्य स्वकीयं वस्त्रादिकं च परिधाय प्रतिष्ठते)

चतुर्थ-दृश्यम्

प्रतीहारी— (राजसभा-भवनं प्रविश्य राजानम्) जयतु जयतु देवः । श्रीमान् पण्डित-महाराजः द्रष्टुम् इच्छति आर्यम् ।

राजा— अथ किम् ? प्रवेश्यतां सः (प्रविष्टे पण्डितराजे राज्ञा उत्थाय अभिवादने कृते सति)

पण्डितः— (हस्तौ उत्थाप्य) चिरं जीवतु महाराजः । कल्याणम् अस्तु सर्वतः । अपि देवेन अहं स्मृतः ? निर्दिश्यताम् । अपि किञ्चन अनुष्ठानं कर्त्तव्यम् अस्ति ? किं वा अद्य विजय-यात्रायै शुभ-मुहूर्त्तः द्रष्टव्यः अस्ति ? उत किं किञ्चन निमित्तं कृत्वा ब्राह्मण-भोजनम् आयोजितम् अस्ति ?

राजा— (स्व-गतं विहस्य) द्रष्टव्यं वर्त्तते— ब्राह्मणाय भोजनम् अस्ति ब्राह्मणस्य भोजनं वा ? अधुना एव ज्ञास्यते (प्रकटम्) भगवन् ! एषु एकम् अपि कार्यं न वर्त्तते । कथ्यताम्, महाराज्ञ्याः स्वर्ण-हारः किं कोषाध्यक्ष-सकाशात् भवता गृहीतः ?

पण्डितः— (निषेधे कृते राज-दण्डम् आशङ्क्य) आं महीपाल ! मया एव गृहीतः, किन्तु न स्वस्मै । गृहीत्वा सङ्गीतज्ञाय प्रदत्तः ।

राजा— (दूतम्) गम्यताम् । सङ्गीतज्ञः अत्र उपस्थाप्यताम् ।

दूतः— (साञ्जलिः) यद् आज्ञापयति देवः (गच्छति, सङ्गीतज्ञम् आनीय उपस्थापयति)

सङ्गीतज्ञः— जयतु जयतु महाराजः । अथ आदिश्यताम् । किमर्थम् अत्र-दात्रा स्मृतः ? किं काचन सङ्गीत-गोष्ठी समायोजिता ?

राजा—न एवं, न एवम् । कथ्यताम् । किम् एतत्-पण्डितराज-महोदयतः महाराज्ञ्याः स्वर्ण-हारः भवता गृहीतः ।

सङ्गीतज्ञः— आम्, श्रीमन् ! गृहीतः तु अवश्यम् । किन्तु सः नगर-विख्यात-नर्त्तक्यै प्रदत्तः ।

राजा— (दूतम्) गम्यताम् । नर्त्तकी अपि आनीयताम् ।

(दूतः प्रणम्य निर्गच्छति नर्त्तकीं च आनीय उपस्थापयति)

नर्त्तकी — (उपस्थाय साञ्जलिः) आज्ञाप्यताम् अन्न-दातः ! किं पुत्र-रत्नेन अलङ्कृतः अस्ति श्रीमान् ? तद्-उत्सवे किं नृत्यस्य आयोजनं रचितम् ? येन अहं स्मृता अस्मि !

राजा— क्व साम्प्रतं पुत्ररत्न-प्राप्तिः ? कथ्यताम्, किम् अनेन सङ्गीतज्ञेन तुभ्यं महाराज्ञ्याः स्वर्ण-हारः दत्तः ?

नर्त्तकी— आं भगवन् !

राजा— (मन्त्रिणं प्रति) मन्त्रि-वर्य ! इमे सर्वे अपि कारागार-वासेन दण्डनीयाः सन्ति । व्यवस्था क्रियताम् । अयं कृषकः त्यक्तव्यः ।

मन्त्री — यद् आज्ञापयति देवः ।

राजा— साधु, गच्छामः तावत् (सभा विसृज्यते, राज्ञि उत्थिते सति सर्वे उत्तिष्ठन्ति । कोषाध्यक्षं, पण्डितं, सङ्गीतज्ञं, नर्त्तकीं, मन्त्रिणं च विहाय सर्वे राजानम् अनुगच्छन्ति । राजनि गते सर्वे यथा-स्थानम् उपविशन्ति)

मन्त्री— (पत्रं विलिख्य) अस्ति अत्र कश्चन ?

प्रतीहारी— (प्रविश्य साञ्जलिः) अहम् अस्मि आर्य ! कः नियोगः ?

मन्त्री— (पत्र-पुटकं दत्त्वा) अयं पत्र-पुटकः कारागृहाधिपतये अर्पणीयः (कोषाध्यक्षादीन् सङ्केतयन्) एते च अपि तद्-अन्तिकं नेयाः (कोषाध्यक्षादीन्) गच्छन्तु भवन्तः सर्वे एतेन सह । (कोषाध्यक्षादयः प्रतीहारिणा सह निर्गच्छन्ति)

मन्त्री— (सर्वेषु गतेषु स्व-गतम् एकाकी) अहो ! एतद् न सम्भवति । वयोवृद्धः कोषाध्यक्षः, सदाचारी पण्डित-राजः च इत्थम् अनाचारं कर्तुं न शक्नुतः । राज्ञः स्वभावस्य ज्ञात्रा कोषाध्यक्षेण निर्मूलम् एव स्वीकृतं, तथैव अन्यैः अपि । किम् अत्र रहस्यम् ? गवेषयामि (प्रकटम्) कः वर्तते द्वारि ?

प्रतीहारी— (समुपस्थाय साञ्जलिः) अहम् अस्मि आर्य ! यथा-स्थानं प्रापितं पत्रम्, अनुष्ठितं च तद्-अनुसारं कारागृहाधिपतिना ।

मन्त्री— साधु, साधु । गम्यताम्, अद्य रात्रौ च निभृतं दृश्यतां कारागारे निवासिताः कोषाध्यक्ष-राजपण्डितादयः कीदृशं परस्परं वार्त्तालापं कुर्वन्ति । प्रातः मह्यं सूचना देया । आम्, इदं पत्रं कारागाराधिपतये देयम् (लेखितुं प्रवर्तते, लिखित्वा पुटके च तत् पिधाय प्रतीहारिणे ददाति, प्रतीहारी च गृहीत्वा प्रणम्य च निर्गच्छति)

पञ्चम-दृश्यम्

(कारागारस्य एकस्मिन् प्रकोष्ठे पिहिताः कोषाध्यक्षादयः आलपन्ति, तेषां वार्त्तालाप-ध्वनिं विहाय सर्वत्र नीरवता-साम्राज्यम् अस्ति, मन्त्रिणा आज्ञप्तः प्रतीहारी वार्त्तालापं निभृतं स्थितः शृणोति —)

पण्डितः— कोषाध्यक्ष महोदय ! भवता मह्यं कदा स्वर्ण-हारः दत्तः ? मिथ्या एव भाषितम् ।

कोषाध्यक्षः— भ्रातः ! भवन्तं विना अत्र समय-यापनं दुःशक्यम् आसीत् । अधुना भवतः कथां श्रोष्यामः ।

सङ्गीतज्ञः— पण्डितराज ! भवता अपि तु मह्यं स्वर्ण-हारः न दत्तः आसीत्, तत्-कथं भवान् मिथ्या उक्तवान् ?

पण्डितः— भ्रातः ! त्वां विना इयं गोष्ठी निरानन्दा एव स्यात् इति विचार्य तथा कृतवान् ।

नर्त्तकी— सङ्गीतज्ञ महाशय ! अन्यम् एव दूषयति भवान्, आत्मानम् अपि तु पश्यतु । मह्यं भवता स्वर्ण-हारः कदा दत्तः ?

सङ्गीतज्ञः— (विहस्य) क्षम्यतां देवि ! नृत्यं विना सङ्गीतम् अपूर्णम् एव भविष्यति इति धिया भवतीं सममेलयम् ।

पण्डितः— आम्, भवतु तावत् गानम् एकम् (नर्त्तकीम्) सुमुखि ! सज्जतां भवती अपि ।

सङ्गीतज्ञः— (गायति, नर्त्तकी च नृत्यति—)

मा मा मुञ्च मुरारे
रङ्गमङ्के सुकुमारे
नटवर ! त्वं न बिभेषि मनागपि
पर-लज्जा-पट-हारे !

जार-दोष-दूषिता कथमहं
चलिष्यामि संसारे ।।
गोप-गोपी-जन-भारे
मा मा मुञ्च मुरारे ।।१।।

रङ्ग-रञ्जितां चुनरीमेतां
धृत्वा कथमागारे
यास्याम्यहं विलोकय मोहन !
शीत-सुरभि-सञ्चारे ।
दुर्वधू - पिहित-द्वारे
मा मा मुञ्च मुरारे ।।२।।

यमुना-जलमानेतुं प्रहिता
श्वश्रूवाहं सर्पाकारे
मार्गे मञ्जुल-होलावसरे
तिष्ठस्यनुवारे
सती-रक्षण-दुर्वारे
मा मा मुञ्च मुरारे
रङ्गमङ्गे सुकुमारे ।।३।।

(कोषाध्यक्ष-पण्डितौ प्रशंसां कुर्वाणौ तालिकां वादयतः, प्रतीहारी निभृतं निर्गच्छति)

षष्ठ-दृश्यम्

मन्त्री— (चिन्ता-व्यग्रः आत्म-गतम्) हं हो ! प्रतीहारिणा कारागार-वासिनां कोषाध्यक्ष-राजपण्डितादीनां या वार्त्ता सूचिता, तया तु इत्थं प्रतीयते यत् न ते वस्तुतः स्वर्ण-हाराऽपहारिणः । तद् अत्र अन्यः एव कश्चन चौरः वर्त्तते, अन्वेषणीयः सः । आम्, उपवनम् अद्यत्वे वानर-बहुलं वर्तते । क्वचित् केनचन वानरेण एव सः अपहृतः भवेत् । तद् इदम् अपि परीक्षे तावत् (प्रकटम्) अस्ति द्वारि कश्चन ?

प्रतीहारी— (उपस्थाय साञ्जलिः) आम्, अहम् अस्मि आर्य ! आज्ञाप्यताम् ।

मन्त्री— जीवसङ्ग्रहालयाध्यक्षः उच्यतां यत् सङ्ग्रहालयीय-पालित-वानरान् प्रत्येकं रजतहारं परिधाप्य विचरणाय वने त्यजेत् । यदि तदानीं तेषु कश्चन नवागन्तुकः स्वर्णहार-धारी वानरः दृश्येत, तर्हि तदीयं हारम् आनीय मह्यं ददीत इति ।

प्रतीहारी— (साञ्जलिः) यद् आज्ञापयति महाराजः (निर्गच्छति)

सप्तम-दृश्यम्

(उपवने सङ्ग्रहालयाध्यक्षेण त्यक्ताः रजतहार-धारिणः वानराः इतस्ततः विचरन्ति । तेषु केचित् वृक्षान् आरोहन्ति, केचन शाखासु कूर्दन्ते, केचित् स्वीयं हारं दर्शं दर्शं मोदन्ते, केचित् हर्षाविष्टाः कूजन्ति, केचित् मिथः क्रीडन्ति । महाराज्ञ्याः स्वर्णहारापहारिणी वानरी आत्मानम् अपि तथा अलङ्कर्तुम् इच्छन्ती कोटरात् हारम् आदाय परिदधाति, अन्येषु वानरेषु च सम्मिलति । तस्याः वानर्याः तादृशीं चेष्टां दृष्ट्वा निभृतं निगूढः सङ्ग्रहालयाध्यक्षः स्व-सहयोगिनः शनैः शनैः वदति—)

सङ्ग्रहालयाध्यक्षः— (अङ्गुल्या सङ्केतयन्) दृश्यतां रे ! दृश्यताम् । सा तिष्ठति स्वर्णहार-धारिणी वानरी । अस्याः एव कृते मन्त्रि-महोदयेन उक्तम् । तद् निःशब्दं गत्वा निगृह्यताम् इयम् । न पलायेत क्वचन एषा (एकः सहयोगी गच्छति, किन्तु तदीय-पद-ध्वनिं श्रुत्वा वानरी वृक्षान्तरे कूर्दते, तथा दृष्ट्वा—)

द्वितीयः सहयोगी— (सोपालम्भम्) किम् एतत् त्वया कृतम् ? सा तु पलायिता । तिष्ठ, अहं गच्छामि (गच्छति, किन्तु शाखान्तरे कूर्दते वानरी । तथा दृष्ट्वा—)

प्रथमः सहयोगी— वद इदानीम् । का त्वया वीरता प्रदर्शिता ? वक्तुं सुकरम् अस्ति महाशय ! किन्तु कर्त्तुं दुष्करम् । परोपदेशे सर्वः अपि पण्डितः भवति ।

द्वितीयः सहयोगी— अरे ! आस्ताम् अपि तावत् । दृश्यताम्, अधुना निगृह्णामि न वा ? (निग्रहीतुं प्रवर्त्तते, किन्तु निगृहीता अपि वानरी परिस्खलति)

प्रथमः सहयोगी— (सोपालम्भम् उच्चैः उपहसति स-तालिका-वादनम्) आः ! आः !! आः !!! केन मुखेन विकत्थितम् आसीत् श्रीमन् !

सङ्ग्रहालयाध्यक्षः— अलम् अलं विवादेन । चणकाः आनीय विकीर्यन्ताम् । तद्-भक्षणपरा इयं निग्रहीतुं शक्यते । अन्यः सरलः मार्गः न अस्ति ।

प्रथम-द्वितीय-सहयोगिनौ— आम् आम्, इयम् एव युक्तिः शोभना । एवम् एव कुर्वः (चणकान् आनीय विकिरतः, पालित-वानराः आगत्य खादितुं प्रवर्त्तन्ते, सा वानरी अपि तत्र सम्मिलति, ततः प्राप्तावसरः प्रथमः सहयोगी तां वानरीं निगृह्य हर्षाविष्टः—)

प्रथमः सहयोगी— निगृहीता, निगृहीता । आगम्यताम् आगम्यताम् (द्वितीय-सहयोगिना सह सङ्ग्रहालयाध्यक्षः आगच्छति । निग्रहीता सहयोगी हारम् उत्तार्य अध्यक्षाय ददाति । वानरीं तथा अन्यान् पालित-वानरान् च सङ्गृह्य ततः सर्वे प्रतिष्ठन्ते)

अष्टम-दृश्यम्

मन्त्री— (सभा-भवने पञ्चष-सभ्यैः परिवृतं स्वर्ण-रत्न-जटित-सिंहासने समासीनं राजानं साञ्जलिः) महाराज ! सौभाग्यात् तत्रभवत्याः महाराज्ञ्याः स्वर्णहारः सम्प्राप्तः । गृह्यताम् अयम् (राज-हस्ते अर्पयति ।)

राजा— (सहर्षम्) कुतः ?

मन्त्री— भगवन् ! एकस्याः लघ्व्याः वानर्याः समीपे ।

राजा— (साश्चर्यम्) हुं, वानर्याः समीपे ! एतत् कथं सम्भवति ?

मन्त्री—महाराज ! एवम् एव सम्भूतम् । वानरी एव वस्तुतः स्वर्ण-हारापहारिणी, न पुनः कोषाध्यक्ष-राजपण्डितादयः । श्रीमत्-स्वभाव-विद्भिः तैः तु निराधारम् एव तथा स्वीकृतम् ।

राजा— भवता कथं ज्ञातम् ?

मन्त्री— भगवन् ! कोषाध्यक्षादीनां भवते प्रदत्तेन उत्तरेण न मे सन्तोषः जातः । तेषां सर्वेषां समानम् एव उत्तरं मम सन्देहम् उदपादयत् । अतः वस्तु-स्थिति-निर्णयार्थं मया कारागार-गतानां तेषाम् अभिप्राय-विज्ञानाय प्रबन्धः कृतः । ज्ञाताभिप्रायः अहं जीवसङ्ग्रहालयाध्यक्षं पालित-वानराणां साहाय्येन उपवनोपगतान् वानरान् अन्वेष्टुं सूचितवान् । ततः सौभाग्येन रजत-हार-धारि-वानरैः सह विचरन्ती स्वर्ण-हारापहारिणी उपवन-गता वानरी अवलोकिता । तस्याः सकाशात् एव अयं लब्धः ।

राजा— (सहर्षम्) साधु साधु मन्त्रिवर ! इदानीं निरपराधाः कोषाध्यक्ष-राजपण्डितादयः स-सम्मानं कारागारतः विमोचनीयाः । परम् इयद् अन्यत् गवेष्यताम्, सुशीलातः हारं कृषकः कथम् अपहृतवान् ?

मन्त्री— तर्हि सुशीला अत्र एव आकारणीया ?

राजा— अथ किम् ?

मन्त्री— (द्वारं प्रति दृष्ट्वा) अस्ति अत्र कश्चन ?

प्रतीहारी— (उपस्थाय साञ्जलिः) अहम् अस्मि आर्य !

मन्त्री— गम्यताम्, सुशीला अत्र उपस्थापनीया ।

(प्रतीहारी प्रणम्य निर्गच्छति, सुशीला उपतिष्ठते)

सुशीला— (साञ्जलिः) जयतु जयतु देवः ।

राजा— अयि सुशीले । सत्यं सत्यं वद । महाराज्ञ्याः हारं त्वत्तः कः अपहृतवान् ?

सुशीला— (असत्य-भाषणे भयम् आशङ्क्य) महाराज ! निद्रितायाः मम हस्तात् सः हारः पतितः, पश्चात् केन अपहृतः ? इति अहं न जानामि । किन्तु केनचित् चौरेण एव नीतः इति संभाव्य कोलाहलं कृतवती । अग्रे देवः प्रमाणम् ।

राजा— अस्तु, गच्छ (सुशीला निर्गच्छति, मन्त्रिणं प्रति) मन्त्रिन् ! कृषकः सत्यदेवः अपि आकार्यताम्, कदा कोषाध्यक्षाय तेन हारः दत्तः इति पृच्छामः ।

मन्त्री— एवं भवतु (द्वारं प्रति संलक्ष्य) अस्ति द्वारि कश्चन ?

प्रतीहारी— (समुपस्थाय साञ्जलिः) आज्ञापयतु देवः ।

राजा— अत्र नगरोपकण्ठ-निवासिनं सत्यदेवं कृषकम् उपस्थापय ।

प्रतीहारी— यद् आज्ञापयति महाराजः (प्रणम्य निर्गच्छति, कृषकः उपतिष्ठते)

कृषकः— (प्रणम्य) जयतु जयतु देव !

राजा— अरे कृषक ! सत्यं सत्यं वद । कदा त्वं कोषाध्यक्षाय महाराज्ञ्याः हारम् अपहृत्य दत्तवान् ?

कृषकः— (असत्य-भाषणे भयम् आशङ्क्य) महाराज ! सत्यं वदामि । न वस्तुतः मया स्वर्णहारः दृष्टः, न च कोषाध्यक्षाय दत्तः, अपहरणस्य तु का वार्त्ता ?

राजा— तर्हि त्वया पूर्वम् अपहरण-वार्ता कोषाध्यक्षाय अर्पणस्य वार्ता च कथं स्वीकृता आसीत् ?

कृषकः—महाराज ! राजपुरुषाणाम् अधिक-ताडनात् राजपुरुषाणाम् अग्रे तथैव स्वीकृतम् आसीत्, भवतः पुरतः च तथा स्वीकृतेः अभावे अधिकतर-ताडन-भयम् आसीत्, अतः ताडन-भीरुणा मया असत्यम् अपि सत्यत्वे स्वीकृतम् । अग्रे देवः प्रमाणम् ।

मन्त्री—(राजानं) महाराज ! कोषाध्यक्षादीनाम् अपि इयम् एव स्थितिः । तैः अपि दण्ड-भिया असत्यम् अपि सत्यत्वेन स्वीकृतम् ।

राजा— (कृषकं प्रति) गच्छ त्वम् । (मन्त्रिणं प्रति) मन्त्रिन् ! यद् जातं तद् जातम् । राजपुरुषाः सङ्केतनीयाः यद् अग्रे न कश्चन एतावान् ताडनीयः येन सः असत्यम् अपि सत्यत्वेन स्वीकुर्यात् । असत्यस्य सत्यतायां महती अनर्थ-सम्भावना ।

मन्त्री— (साञ्जलिः) यद् आज्ञापयति देवः ।

राजा— अद्यतन-सभा विसृज्यते ।

(क्रमशः सर्वे निर्गच्छन्ति)

(शनैः शनैः पटाक्षेपः)

पशु-कल्याण

कथा-वस्तु— दो दृश्यों में समाप्त होने वाले इस रूपक के **प्रथम दृश्य** में— विद्यालय की बगीची में एक अशोक वृक्ष के नीचे चिन्ता-मुद्रा में बैठे मनोहर नाम के सहाध्यायी के पास उसका सहपाठी श्याम जाकर उसको उसकी चिन्ता का कारण पूछता है। मनोहर पशुओं पर नाना प्रकार से किये जाने वाले अत्याचारों से दुःखी है। वह उनसे पशुओं को बचाने के जिए श्याम से सहयोग देने की प्रार्थना करता है। श्याम सहर्ष उस पुण्य कार्य में सहयोग करने के लिये तैयार हो जाता है। मनोहर पशु-कल्याण-परिषद् की स्थापना और उसकी शाखाओं का सर्वत्र प्रसारण करने के लिये प्रस्ताव उपस्थित करता है। **द्वितीय दृश्य में**— छुट्टी हो जाने के पश्चात् भी बैठे हुए श्याम और मनोहर को देखकर विद्यालय के प्रधानाचार्य उनके पास आते हैं। उनसे पूछे जाने पर श्याम मनोहर के द्वारा पशु-कल्याण के लिये विचारित योजना उनके सामने रखता है। प्रधानाचार्य उससे सन्तुष्ट होकर उस योजना में अपना भी सहयोग देने के लिये अपना आशीर्वाद वितीर्ण करते हैं। इससे दोनों सहपाठी धन्य-धन्य हो जाते हैं।

चरित्र-चित्रण— मनोहर प्रधानपात्र है। जीवों को नाना प्रकार से सताये हुए देखकर उनकी रक्षा करने की उसके मन में प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है। अपनी योजना को सफल देखने के लिये वह अपने सहपाठी श्याम की सहायता माँगता है। सौभाग्य से वह इसमें सफल भी हो जाता है। अपनी सारी पशु-कल्याण-योजना उसके सामने रखता है। द्वितीय पात्र श्याम है। वह भी मनोहर की तरह पशुओं के प्रति दया-धारी है। अतः तत्काल ही सहायता देने के लिये तैयार हो जाता है। दोनों के एक विचार से सुन्दर पशु-कल्याण-योजना बनायी जाती है। प्रधानाचार्य तृतीय पात्र हैं। वे पशु-कल्याण-योजना देखकर दोनों ही सहपाठियों को बधाई देते हैं और उन्हें अपना भी सहयोग देने की प्रतिज्ञा करते हैं।

उद्देश्य— पशु भी मनुष्यों की तरह संवेदन-शील प्राणी हैं। उनको भी मनुष्यों के समान ही सुख-दुःख की अनुभूति होती है। मूक पशुओं पर अपने

आमोद-प्रमोद के लिये किया जा रहा अनेक प्रकार का अत्याचार कदापि उचित नहीं है। उनके कल्याण के लिये पशु-कल्याण-परिषद् की स्थापना करके उसकी शाखाओं का जाल सर्वत्र बिछा दिया जाना चाहिये और संचार-साधनों एवं समाचार-पत्रों के माध्यम से पशु-कल्याण के लिये जन-मानस को परिवर्त्तित करना चाहिये। पुण्य के इस कार्य में शालाओं में अध्ययन-कर्ता विद्यार्थी, उनके अध्यापक, अभिभावक और संरक्षक बहुत कुछ कर सकते हैं। यही सब बताना इस रूपक की पृष्ठ-भूमि में उद्देश्य है।

पात्र–परिचय

मनोहर— पशुओं पर किये जा रहे विविध अत्याचारों से दुःखी छात्र और पशु-कल्याण की योजना का विचारक मनीषी।

श्याम— मनोहर का सहपाठी और उसका सहयोगकारी मित्र।

प्रधानाचार्य— दोनों ही सहपाठियों को प्रोत्साहित करने वाले सुयोग्य प्रधानाचार्य।

पशु-कल्याणम्

प्रथम-दृश्यम्

(विद्यालयस्य वाटिकायाम् एकस्य घनच्छायस्य अशोक-तरोः तले सचिन्तः इव एकः विद्यार्थी मनोहरः दृष्टिपथम् अवतरति। सहसा तस्य सहपाठी श्यामः प्रविश्य ध्यानं त्रोटयन् इव—)

श्यामः— हं हो मित्र मनोहर ! किम् एवं स-गाम्भीर्यं चिन्तयन् इव अत्र एकान्ते तिष्ठसि ? अद्य तु क्रीडितुम् अपि न आगच्छः। किम् अहं तव चिन्तायाः कारणं ज्ञातुं शक्नोमि ?

मनोहरः— (परिवृत्य) आगच्छ मित्र आगच्छ। शोभन-समये आगच्छः। मम तव एव आवश्यकता अस्ति।

श्यामः— का सा आवश्यकता ? तुभ्यं तु यदि मम प्राणानाम् अपि उपयोगः स्यात्, तर्हि अहं धन्य-धन्यः भवेयम्। तद् मित्रम् एव किं ? यस्य उपयोगः मित्राय न स्यात्। कथय, अहं किं ते प्रियं करवाणि ?

मनोहरः— मित्र ! त्वत् मे इयम् एव आशा आसीत् यत् त्वं मां निराशं न करिष्यसि। परम् अहं नर-भक्षी तु अस्मि एव न, यः तव प्राणान् हरेयम्। केवलम् इदम् एव त्वत् अपेक्षे यत् त्वं मम पुण्ये कर्मणि सहयोगं कुरु।

श्यामः— किं ते तत् पुण्यं कर्म ? यत्र अहं सहयोगं कृत्वा भाग्य-शाली भवेयम्। अविलम्बं कथय। अधिकां जिज्ञासां मा वर्धय।

मनोहरः— मित्र ! अहम् एकां पशु-कल्याण-योजनां निर्मितवान् अस्मि। त्वं तु जानासि एव, परमात्मनः विस्मयकारक-विभिन्न-प्रकारक-सृष्टौ एका विशालतमा पशु-सृष्टिः अपि वर्त्तते।

श्यामः— आम्, आम्। मनुष्यः अपि तु द्विपादः पशुः एव अस्ति। यः हितम् अहितं च पश्यति, सः एव पशुः। किं मम कथनम् असत्यम् ?

मनोहरः— नहि नहि मित्र ! त्वं सर्वथा सत्यं कथयसि। हिताऽहितयोः विवेकः अन्य-पशूनाम् अपेक्षया मनुष्यस्य अधिकः भवति। अतः सः आत्म-कल्याणे स्वयं समर्थः अपि अस्ति।

श्यामः— किन्तु यदा मनुष्यः आत्म-विवेकं परित्यज्य पशुवत् आचरणं करोति, तदा तु सः पुच्छ-विषाण-हीनः सर्वथा पशुः एव सञ्जायते, यः तृणं न खादन् अपि जीवति, एतत् तु पशूनां परमं सौभाग्यम् एव माननीयम्।

मनोहरः— त्वं मम मनसः वार्ताम् अकथयः। अस्य पशुवत् आचरण-शीलस्य मनुष्यस्य दुराचार-कारणात् एव तु अद्य मनुष्येतर-पशूनां कल्याणस्य विषयः चिन्तनीयः अभवत्।

श्यामः— आम् आम्, अहं जानामि अस्य अत्याचारान्। सभ्यम्मन्यः अयं मनुष्यः आत्म-विनोदार्थं तान् पशून् पीडयति तापयति मारयति च।

मनोहरः— वैज्ञानिकान् एव अवलोकय। ते आत्म-विज्ञानस्य परीक्षणं सर्व-प्रथमं वानर-मूषक-शशक-मण्डूकादिषु एव कुर्वन्ति। अनेन एषां जीवानां जायमानां वेदनां तु स्वयं परीक्षितः वैज्ञानिक-सम्राट् एव वर्णयितुं शक्नोति।

श्यामः— अरे ! वैज्ञानिकानां कां वार्तां करोषि ? केचन जिह्वा-स्वाद-लम्पटाः मनुष्याः तु अज-महिष-शूकर-मेष-मृग-मीनादीन् अपि निर्दयं मारयित्वा उदरसात् कुर्वन्ति।

मनोहरः— अन्ये पुनः दुरात्मानः एतेषां मस्तक-विषाण-चर्मादिभिः अवयवैः आत्मीयम् आतिथ्य-कक्षं सज्जयितुं गौरवम् अपि तु मन्यन्ते।

श्यामः— हन्त ! हन्त !! सर्वथा एव निन्दनीयं तद् इदं कुकर्म। अथ च भार-वाहकेषु उष्ट्र-बलीवर्द-घोटक-गर्दभ-महिषादिषु पशुषु ये मनुष्याः तेषां वहन-क्षमतातः अधिकं भारं संस्थाप्य पततः स्खलतः अपि तान् पुरः प्रचलितुं स-कशा-घातं बाध्यान् कुर्वन्ति, ते अपि तु तेषु महान्तम् अत्याचारं कुर्वते।

मनोहरः— आम् आम्, इतः अपि अत्यधिकाः क्रूराः निर्दयाः च ते सन्ति, ये एवं तैः पशुभिः क्षमतातः अधिकं कार्यं कारयित्वा उदर-पूरं तेभ्यः

न पोषाहारं ददति, न समये तान् निर्मलं जलं पाययन्ति, न च सञ्जात-रोगाणां तेषां सम्यक् सेवाम् एव कुर्वन्ति। इदं सर्वं दृष्ट्वा दृष्ट्वा एव तु अहम् अत्यन्तं दुःखितः अस्मि। भगवान् एभ्यः आत्मवत् एव पशुषु सुख-दुःखयोः अनुभूतिं कर्त्तुं सद्-बुद्धिं ददातु।

श्यामः— मित्र! केवलं दुःखेन एव कार्य-सिद्धिः न भविष्यति। त्वं यां पशु-कल्याण-योजनां निर्मितवान्, तां सार-रूपे वद। तत्र मम पूर्णः सहयोगः भविता। इदं त्वं निश्चितं जानीहि।

मनोहरः— मम अन्तरङ्ग-मित्र! शृणु तावत्। पशुषु ये अत्याचारं कुर्वन्ति, तेषां सर्व-प्रथमं मानसम् एव परिवर्त्तनीयम् अस्ति। सर्वकारेण सह समाचार-पत्राणि दूरदर्शन-यन्त्राणि च अत्र अस्माकं सहायतां कर्तुं शक्नुवन्ति। अस्माभिः एका पशु-कल्याण-परिषद् संघटनीया यस्याः शाखाः प्रत्येक-वसतौ भवेयुः। परिषदः सदस्याः पशुषु अत्याचार-कर्तृभिः सह सम्पर्कं कृत्वा तेषु पशून् प्रति दया-भावं जागरयितुं पूर्णं प्रयत्नं कुर्वन्तु तथा पशूनां स्थाने अन्यैः एव पदार्थैः तान् स्व-कार्यं साधयितुं मार्गं दर्शयन्तु।

श्यामः— इदं सम्भवति। दया-भावे जागरिते कः पुनः पशुषु अत्याचारं करिष्यति? अथ यदा बालक-बालिकाः कञ्चित् अपि शावकं प्राप्नुवन्ति, तदा कौतुक-वशात् खेले एव खेले यथेच्छं तस्य अङ्गं तथा नमयन्ति यथा वराकस्य अङ्ग-भङ्गः सञ्जायते। अनेन यदा कदा तु वराकः शावकः म्रियते अपि। अतः एतादृश-दुष्कृत्य-करणात् अबोधाः बालक-बालिकाः सप्रबोधं वारणीयाः सन्ति।

मनोहरः—आम् अहं तव अनेन प्रस्तावेन सहमतः अस्मि। अस्माभिः पशु-कल्याणे प्रेम-धारिणाम् आह्वानं कृत्वा पशु-कल्याण-परिषदः संस्थापना करणीया, यथाशीघ्रं च अस्याः शाखानाम् एकं विशालं जालम् अपि सर्वत्र प्रसारणीयम्।

प्रधानाचार्यः— (अकस्मात् समीपम् आगत्य) अरे श्याम-मनोहरौ! अत्र किं कुरुथः? विद्यालयस्य छुट्टिः अभवत्। युवाम् इह एव तिष्ठथः? गृहं किं न गच्छथः?

मनोहरः— (चकितः इव साभ्युत्थानं सप्रणामं च) पूजनीय गुरुदेव! अभिवादनम्। पशु-कल्याणम् अभिचिन्तयतोः आवयोः छुट्टेः घण्टा-नादः कर्ण-गोचरः अभवत् एव न। तद् अधुना गच्छावः।

प्रधानाचार्यः— (निवार्य) नहि नहि । श्याम ! त्वम् एव कथय । कीदृशं पशु-कल्याणम् ? अहम् अपि शृणुयां तावत् ।

श्यामः— (बद्धाञ्जलिः) गुरुदेव ! पशुषु मनुष्याणां जायमानान् विविधान् अत्याचारान् अवरोधयितुम् अनेन मम मित्रेण मनोहरेण एका साध्वी पशु-कल्याण-योजना निर्मिता अस्ति । तदनुसारं प्रथमं पशु-कल्याण-परिषद् संस्थापनीया वर्त्तते । अस्याः सदस्याः पशुषु अत्याचार-कारिषु मनुष्येषु पशून् प्रति दया-भावम् उत्पादयितुं प्रयत्नं करिष्यन्ति ।

प्रधानाचार्यः— (श्याम-मनोहरयोः स्कन्धयोः स्वकीयौ हस्तौ निधाय) साधु-साधु । शोभनः अयं सङ्कल्पः । अन्ततः स्थः अपि तु संस्कृत-पाठिनौ एव युवाम् । कथं न जन्तून् प्रति दयार्द्र-हृदयौ भवेतम् ? अहम् अपि युष्माकम् अभिभावकानाम् एकं सम्मेलनं शीघ्रम् एव आकार्यं तन्माध्यमेन युष्मत्-सन्देशं गृहे-गृहे प्रचारयिष्यामि प्रसारयिष्यामि च । महात्मनः गौतम-बुद्धस्य दयानिधेः महावीर-स्वामिनः च पवित्रात्मा युष्माकम् इमं शुभं सङ्कल्पं पूरयतु । सर्वथा सत्य-कामौ भवतं युवाम् । अयं मे हार्दिकः अभिलाषः । तद् गच्छतं गृहं सम्प्रति । पुनः श्वः मेलिष्यामः ।

श्याम-मनोहरौ—(बद्ध-कर-सम्पुटौ स-विनयम्) बहु बहु अनुगृहीतौ गुरुदेवेन ।

(सर्वे गच्छन्ति, प्रथमं प्रधानाचार्यः, तदनन्तरं श्याम-मनोहरौ च)

(शनैः शनैः जवनिका-पातः)

विश्वविद्यालयों/परीक्षा बोर्डों से स्वीकृत/उपयोगी पुस्तकें

(म० म० श्री नवलकिशोरकाङ्कर-विरचित)

१. **राष्ट्रवेदः**—वैदिक भाषा और वैदिक छन्दों में राष्ट्रिय सद्-भावनाओं से ओतप्रोत/देशी विदेशी विद्वानों से अभिनन्दित/विश्व का सर्वप्रथम पाँचवाँ वेद, संस्कृत-भाष्य और हिन्दी-अंग्रेजी-अनुवाद सहित ।

२. **शास्त्रसर्वस्वम्**—वेद, दर्शन और साहित्य के आचार्य/एम. ए. परीक्षार्थियों के लिये स्वीकृत सर्वोत्तम पाठ्यग्रन्थ ।

३. **यात्राविलासम्**—शास्त्री/ एम. ए. के लिये स्वीकृत/शीर्षस्थ विद्वानों से प्रशंसित/प्रौढ-संस्कृत में यात्राविषयक साहित्यिक मनोहर गद्यकाव्य ।

४. **प्रबन्धमकरन्दः**, ५. **प्रबन्धामृतम्**—बी. ए./एम.ए. में संस्कृत के निबन्धों के लिये स्वीकृत सर्वोत्कृष्ट पुस्तक ।

६. **धर्मकर्मसर्वस्वम्**—हिन्दीटीका-सहित ।

७. **द्विजदशाप्रकाशः**—'मर्मप्रकाशिनी' हिन्दीटीका-सहित पद्यकाव्य ।

८. **नवल सतसई**-हिन्दीटीका-सहित व्रजभाषा में सचित्र मुक्तककाव्य ।

९. **यात्रा के सुखद क्षण**—यात्रा सम्बन्धी मनोमोहक साहित्यिक गद्यकाव्य ।

१०. **लाखीणा बोल**—ढूंढाड़ीभाषा में लिखित सटीक मुक्तक काव्य ।

११. **सैल सपाटा**—ढूंढाड़ी में सर्वप्रथम साहित्यिक गद्यकाव्य ।

(डॉ० नारायणकाङ्कर-विरचित/व्याख्यात/सम्पादित)

१. संक्षिप्त-लघुकौमुदी—हिन्दीटीका-सहित सम्पूर्ण ।

२. सरल-शिवराज-विजयः—विशद शब्दार्थ-टिप्पणी-सहित ।

३. संज्ञा-प्रकरणम्, ४. सन्धि-प्रकरणम्–विस्तृत हिन्दी व्याख्यायुक्त ।

५. एकाङ्क-संस्कृत-नवरत्न-सुषमा । ६. श्रीशिक्षक-स्तव-राजः ।

७. अभिनव-संस्कृत-सुभाषित-सप्तशती ।

८. व्याकरण-साहित्य-प्रकाश । ९. आदर्श-संस्कृत-प्रवेशिका ।

१०. सुबोध-शब्दधातु-रूपावलिः । ११. अभिनव-संस्कृत-कथा ।

१२. विनायकानामभिनन्दनम् । १३. सरल-काव्य-प्रवेश ।

१४. संस्कृत-प्रचार-प्रसारोपयोगी २० सूत्री कार्यक्रमः ।

१५. शुकनासोपदेश की संस्कृत-हिन्दी-व्याख्या ।

१६. अभिनव-संस्कृत-माधुरी । १७. श्रीबाबुदेव-गीता ।

—: प्राप्ति स्थान :—

रमेश बुक डिपो
त्रिपोलिया बाजार
जयपुर-३०२००२

राम शर्मा काङ्कर
विद्या वैभव भवन
सुमेरुकर्ण मार्ग, रामगञ्ज
जयपुर-३०२००३